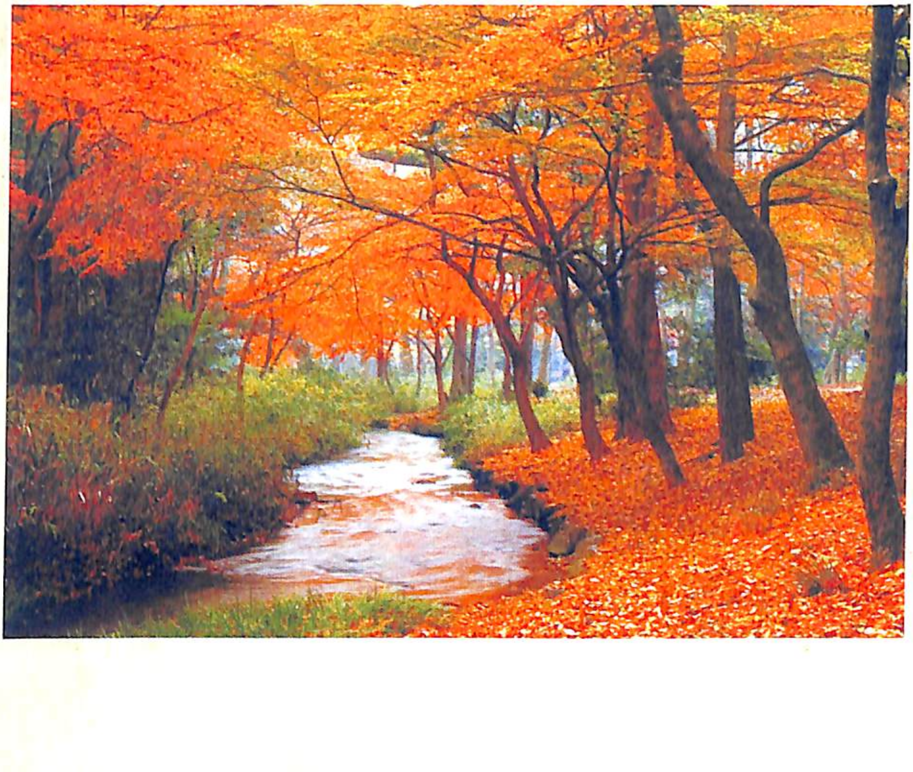
शेष

दो ज़बानों की एक किताब

जनवरी-मार्च, 2004

ख़ुसूसी : यादनामे



पेशकश : हसन जमाल

20/-



स्व. श्री सम्पतराज सा सिंघी
(सुपुत्र स्व. श्रीमती अमोलक देवी एवं स्व. श्री चुन्नीलाल सा सिंघी)
जन्म : 25 दिसम्बर, 1925
देहावसान : 03 दिसम्बर, 2003

॥हास्यमेव जयते॥ ॥जय जय सांई॥

श्रद्धा सुमन

जाने-माने विधिवेत्ता, जिला एवं सत्र न्यायाधीश, राजस्थान उच्च न्यायालय के रजिस्ट्रार, राजस्थान सरकार के विधि सचिव के पदों को सुशोभित करते हुए आपने राजस्थान उच्चतर न्यायिक सेवा क्षेत्र में उच्च कीर्तिमान स्थापित किये। साथ ही रोटरी क्लब जोधपुर के अध्यक्ष, भारतीय विद्या भवन जोधपुर के संस्थापक चेयरमेन, हास्य लोक के प्रधान संपादक, सिरोही समाज जोधपुर के अध्यक्ष, राजस्थान हाईकोर्ट एडवोकेट्स एसोसिएशन के अध्यक्ष, खुश दिलाने संस्था (जोधपुर), इंटक तथा अन्य कई सामाजिक एवं विधि संस्थाओं से जुड़े रहकर आपने विविध क्षेत्रों में अपने कार्यों की महक फैलायी। सिरडी साई बाबा के अनन्य भक्त के रूप में न सिर्फ़ बाबा के दर्शनों का आध्यात्मिक सुख आपने प्राप्त किया वरन् अपनी मृत्यु का पूर्वाभास भी कर लिया। मृत्यु पूर्व आपने अपनी अंतिम इच्छा एवं बाबा के बुलावे का स्पष्ट संकेत लिखकर नेत्रदान के भाव व्यक्त किये। आपकी भावना अनुरूप नेत्रदान किये गये। अध्यात्मशील, चिंतक, ज्ञान के भंडार, विनोद प्रवृत्ति एवं प्रतिभा के धनी व्यक्तित्व को शत्-शत् नमन् !

सिंघी परिजन

अमोलक सदन 657, सरदारपुरा 11वीं 'सी' रोड, जोधपुर (राज.)
फ़ोन : 0291-2432916 मोबाइल : 98290-67422

ख़िराजे-अक़ीदतः

● *कोर्ट में मुलाज़मत करने के अर्से में मेरा साबक़ा कभी साबिक़ा जज श्री संपतराज सिंघी से नहीं पड़ा था. उन्हें मैंने पहले-पहल एक तेज़-तर्रार एडवोकेट के रूप में जाना, फिर घोर अध्ययनशील के रूप में, बाद में 'ज़िंदा दिलाने-जोधपुर' के सद्र और 'हास्य-लोक' के एडिटर की हैसियत से. वो मुझे बहुत अज़ीज़ जानते व रखते थे. 'शेष' के ता'ल्लुक़ से न सिर्फ़ मेरी कोशिशों को सराहते, बल्कि हर मुम्किन सहयोग भी देते थे. शिरडी के साई बाबा के बड़े भक्त थे. एक रोज़ जब मुझे बताया कि उन्होंने बाबा से बात की है, तो उसे मैंने Illusion माना, मगर 29.11.03 को लिखे गये आड़े-तिरछे नोटस जब मुझे दिखाये गये, तो मुझे लगा, जिन तज्रिबों से हम नहीं गुज़रते, वो हमें सत्ही तौर पर Illusion ही लगते हैं. उन्होंने साफ़ तौर पर लिख दिया था कि जयपुर में अपनी पोती की शादी में आशीर्वाद देने के बा'द वो चले जाएंगे और ऐसा ही हुआ. जयपुर से अपने बेटे एम.के. सिंघी के पास ब्यावर पहुंचे और वहीं 3.12.03 को उनका भौतिक सफ़र ख़त्म हुआ. वो जहां कहीं भी होंगे, अपनी ज़िंदादिली का सुबूत दे रहे होंगे. ईश्वर उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे !*

पिछले दिनों वो अपनी आत्म-कथा लिखने में मसरूफ़ थे. कई महापुरुषों की जीवनियां उनके सरहाने रखी होती थीं. तीन किताबें मैंने भी संवाद प्रकाशन, मेरठ से मंगवा कर दी थीं. दीवाली के बा'द 'हास्य-लोक' के एक अंक की छपाई का जिम्मा भी मुझे सौंपने वाले थे, पर क़ुद्रत को ये मंज़ूर नहीं था. यूं भी मुर्दा-दिल 'ज़िंदा-दिलान' की वरासत कैसे संभाल सकते हैं !

● *बद्रीविशाल पित्ती* ● *कन्हैयालाल मत्त*
● *कफ़ील आज़र* ● *मशकूर जावेद*

शेष

दो ज़बानों की एक किताब

एक तिमाही इंतिख़ाब-31

तर्जुमा व तर्तीब : *हसन जमाल*

☛ पन्ना निवास (साइकिल मार्केट) के पास, लोहारपुरा, जोधपुर-342002 ✆ 0291-2541503

जिल्द : तीन **शुमारा - दो** **जनवरी-मार्च 2004**

एक कॉपी : 20/- सालाना : 80/- पांच साल : 300/- मुस्तक़िल : 1000/-

फ़ेहरिस्त

गुज़ारिश : (बसूरत ख़त) / हसन जमाल 3
राजेंद्र यादव—ख़त-1 10
राजेंद्र यादव—ख़त-2 11
शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी का मश्वरा 12

जवाबत :
1. विनय कटियार के सर्टिफ़िकेट की ज़रूरत नहीं / रामप्रकाश कपूर 13
2. गोपीचंद नारंग का इन्दिया / ख़लील तनवीर 16
3. उर्दू अदीब की सूरते-हाल / चौधरी मुहम्मद नईम 18

ख़ुसूसी मुतालआ :
1. आबिद सुहैल की कहानियां / मुहम्मद हसन 24
2. सबसे छोटा ग़म / आबिद सुहैल 26
3. सवा नेज़े पर सूरज / आबिद सुहैल 31

यादनामे :
1. शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी / नय्यर मस्ऊद 37
2. मकर चांदनी-11 / अहमद हमेश 46
3. शरीफ़ज़ादा-3 / हबीब हक़ 57
4. जी उठे लोग जो मरने आया / शकील सिद्दीक़ी 77
5. शफ़ीक़ा की पीएच.डी. / कांति कुमार जैन 85
6. अजहू नाव समुद्र में / मधुकरसिंह 94
7. हिंदी की अंग्रेज़ी में घुसपैठ / हरदर्शन सहगल 103

किताबें :
1. किताब या कपड़े का थान / मक़्बूल जान 109

2. किताबें-2 / गुलज़ार 112
3. किताबें-3 / प्रदीप 'साहिल' 113
4. किताबदार / नय्यर मस्ऊद 114

नज़्में :

1. मिट्टी में सने हुए लोग, मैं यहीं रहूंगा, कभी नहीं/पाब्लो नेरूदा 120,121
2. शो'ले की लौ / गुइलोम अपोलिनेअर 122
3. शे'र / चार्ल्स ब्रेश 122
4. कोरा सायोक / अर्लबर्नी 122
5. ज़रबे ज़र्ब / मजीद अमजद 123
6. दीवारे-क़हक़हा, बर्ज़ख़ धुंधले ख़्वाबों के / नसीर अहमद नासिर 124

ग़ज़लें :

चुनीदा अश्आर / आबिद अदीब 125
हबीब राहत 'हुबाब', डॉ. कैलाश गुरु स्वामी, साहिल, विनय मिश्र 127

डायरी :

दरअस्ल (गुजरात-डायरी 2002 / गोपाल सहर 130

पाकिस्तान-डायरी :

1. शहीदों का लहू तक़्सीम नहीं हो सकता / ज़ाहिदा हिना 134
2. जरनैली तसव्वुरात / नज़ीर नाजी 137
3. डोंगा-बोंगा का कोचवान अल्ताफ़ / जावेद चौधरी 139
4. ग़रीबी व बेकसी—यहां भी/वहां भी / सलीम यज़दानी 141

लघुकथाएं :

बयान / अनवर सुहैल, डेपुटेशन / नदीम अहमद 'नदीम'
साम्प्रदायिकता : सीन-दर-सीन / जाहिद ख़ान 17, 25, 102

परख :

1. वरासत (शफ़क़) / मर्गूबअली 143
2. दीवारे-शब (जाबिर हुसैन) / मर्गूबअली 144
3. दस प्रतिनिधि कहानियां (आबिद सुरती) / हेतु भारद्वाज 148
4. भूमध्य-रेखा (सुदर्शन नारंग) / हेतु भारद्वाज 150

अमल-रद्दे अमल : महेंद्र नेह, जुनैद मुंकिर, गंगानंद झा 152-158

ख़तों से : 159

'शेष' के मालिक, पब्लिशर व एडिटर हसन जमाल के लिये, प्रिण्टर्स यशवन्त भण्डारी द्वारा भण्डारी ऑफसेट, 352, मिनी ग्रोथ सेन्टर, सांगरिया, इन्डस्ट्रीयल एरिया जोधपुर से छपा और पन्ना निवास के सामने, लोहारपुरा, जोधपुर (राज.) से शाए' हुआ. लेज़र टाइपसेटिंग : सूर्या कम्प्यूटर, जोधपुर.

तीन सौ रुपये से कम के चैक क़बूल नहीं किये जाएंगे.

चैक/ड्राफ़्ट सिर्फ़ 'शेष प्रकाशन' या हसन जमाल के नाम से ही भेजे जाएं.

गुज़ारिश:

नवम्बर 03—हंस की 'तेरी मेरी उसकी बात' के जवाब में लिखा गया ख़त यहां पेश किया जा रहा है, जिसमें राजेंद्र यादव को सिर्फ़ गालियां ही नज़र आयीं. शायद इख़्तिलाफ़ और गाली उनके नज़दीक हम मा'नी हैं.

शेष/प्रकाशन

तिमाही गंगा-जमुनी किताब जोधपुर, 3-11-2003

एडिटर : ***हसन जमाल***

प्रिय महोदय,

'लहू पुकारेगा आस्तीं का' में कोई नयी बात नहीं है जो राजेंद्र यादव ने पहले न कही हो. उनका पूरा ज़ोर इस यात पर है कि उर्दू को देवागरी लिपि अपना लेनी चाहिये ताकि एक ज़िंदा ज़बान संस्कृत की तरह मर न जाए.

इधर राजेंद्र यादव इस्लाम, मुसलमान और उर्दू ज़बान को लेकर कुछ ज़ियादा ही फ़िक्रमंद नजर आ रहे हैं. वो ये समझते हैं कि जिस तरह हिंदुत्ववादियों और ब्राह्मणों के ख़िलाफ़ जी भर के अपना गुबार निकालते रहे हैं, उसी तरह इस्लामवादियों के चौदह तबक़ रौशन कर देंगे और इसके लिये उन्होंने वो वक़्त चुना है, जब यहूदी और ईसाई लॉबियां इस्लाम और मुसलमानों के ख़िलाफ़ प्रोपेगंडा करने में सरगर्म हैं. राजेंद्र यादव जब ईसाइयों और अंग्रेज़ी ज़बान की तारीफ़ के पुल बांधते हैं, तब उनकी नीयत पर कुछ-कुछ शक होने लगता है. इस बात को कौन मानेगा कि क्रिश्चयेनिटी धर्म के मामले में सबसे अधिक उदार और आधुनिकता की पर्याय है. ये तथाकथित आधुनिक 21 वीं सदी में समाज सेविका मदर टेरेसा को 'संत' का दरजा देने में अपने किस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय से दे रहे हैं! फिर अंध-विश्वासी हिंदुओं और आधुनिक ईसाइयों में क्या फ़र्क़ है ? जहां तक अंग्रेज़ी का ता'ल्लुक़ है, ये साम्राज्यवादी भाषा है. दो सौ साल पहले तक अंग्रेज़ी की दुनिया में कोई अहमियत नहीं थी. फिर विज्ञान और तकनीक के दम पर और साम्राज्यवादी षड्यंत्र के तहत उसने अपना जाल फैलाया और लोगों को गुलाम बनाया. ये हमारे लिये फ़ख़्र की बात नहीं है कि अंग्रेज़ी के कारण हमें रोज़गार के अधिक कमाऊ मौक़े हाथ आते हैं और हम ज़ियादा अप-टु-

डेट बन जाते हैं. ये तो डूब मरने वाली बात है कि हम अपनी भाषा व तकनीक का ऐसा विकास न कर सके कि उनसे होड़ कर सकें. ये हीन भावना का परिचायक है कि जो कुछ अच्छा, प्रगतिशील और समृद्धिकारक है, वो यूरोप और अमेरिका में है. ये धारणा भी ग़लत है कि अंग्रेज़ी दुनिया की सर्वमान्य भाषा बन चुकी है. ऐसे अनेक देश हैं, जहां अंग्रेज़ी में बात करना क़ौमीयत के ख़िलाफ़ समझा जाता है, बल्कि कई देशों में तो अंग्रेज़ी समझने वाले लोग भी नहीं मिलते. जो लोग विश्व-भ्रमण करते हैं, उन्हें इस जग-ज़ाहिर सचाई का बख़ूबी इल्म होगा.

इस उद्बोधन में आदरणीय राजेंद्र यादव ने बहुत ग़लत, अतथ्यात्मक और भ्रामक बातें कही हैं. मालूम नहीं, उस उर्दू सम्मेलन में उनको मुदल्लल जवाब दिया गया या नहीं? सचाई ये है कि अगर उनके एक-एक वाक्य का ख़ुलासा करने बैठ जाएं, तो तहरीर तूल पकड़ेगी और तूल-बयानी मुझ पर गिरां गुज़रती है. इसलिये सिर्फ़ उन जुम्लों की तरफ़ तवज्जोह दिलाना काफ़ी होगा जो या तो ग़लत हैं या विरोधाभासी हैं—

1. **उर्दू की अपनी प्रकृति धर्म और राजनीति से जुड़ी है.** *(ये फ़तवा है. हक़ीक़त कुछ और है.)*

2. **उर्दू दुनिया में कहीं और नहीं बोली जाती.** *(फिर भी दुनिया में बोली जाने वाली बड़ी ज़बानों में से एक है. दुनिया भारत, पाक, बंगलादेश तक सीमित नहीं है.)*

3. **उर्दू इतनी विशिष्ट और इकलौती भाषा है कि उसका किसी दूसरी भाषा से तालमेल नहीं बैठता.** *(फिर अगले सांस में कहा जा रहा है कि उर्दू और हिंदी में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं है. फिर तालमेल कहते किसे हैं?)*

4. **उर्दू धार्मिक समुदाय से जुड़ी हुई है. मुसलमान दूसरों का खान-पान, पहनावा, बोली-बानी अपना लेता है, तो मुसलमान नहीं रहेगा. इस मामले में क्रिश्चयेनिटी इस्लाम से ज़्यादा लचीली है.** *(जी हां, आपके क़ौल के मुताबिक़ दुनिया में सारे मुसलमानों का खान-पान, पहनावा एक-सा है. क्या इन चीज़ों में भौगोलिक परिस्थितियां काम नहीं करतीं? यूनिवर्सल ड्रेस तो उदार ईसाइयों का दिया है. वे भले लोग कितने उदार हैं कि अपना तो कुछ नहीं छोड़ा, अपना पहनावा सारी दुनिया पर थोप दिया!)*

5. **धर्म के साथ जुड़ने से सारा सवाल राजनैतिक और सांस्कृतिक होने लगता है.** *(ज़बान का धर्म से क्या ता'ल्लुक़ है? इस्लाम का धार्मिक ग्रंथ तो अरबी भाषा में है. अरब देशों को छोड़ कर बाक़ी मुस्लिम देशों में उनकी अपनी भाषाएं हैं और वो अरबी से कमतर नहीं. पाकिस्तान में आज भी उर्दू मुहाजिरों की ज़बान है. बाक़ी*

पाकिस्तानियों की अपनी ज़बानें हैं. बंगलादेश की मिसाल तो आप ख़ुद दे रहे हैं)

6. **भारतीय मुसलमान कठमुल्ला हिंदुओं की तरह अतीतजीवी हैं.** *(अतीतजीवी होना और अतीत से जुड़ाव रखना दो मुख़्तलिफ़ चीज़ें हैं. भारतीय मुसलमान भी देश-काल की परिस्थितियों के मुताबिक़ अपने आपको ढालता है. शरीअत के कुछ क़ानून-क़ाइदे मानने से ही तो मुसलमान आधुनिकता-विरोधी नहीं हो जाता. वो भी ज़माने के सर्दगर्म के मुताबिक़ चलता है. अगर भारतीय मुसलमान रोज़े-नमाज़ का पाबंद है, तो उससे दूसरों को तकलीफ़ क्यों है ? अपने तरीक़े से इबादत करने की छूट तो भारतीय संविधान भी देता है. सामाजिक व्यवहार और जीवन शैली में भारतीय मुसलमान उतना ही आधुनिक है जितना अन्य सम्प्रदाय !)*

7. **अपने मूल में इस्लाम एक क़बाइली और सामंती धर्म है.** *(अगर वास्तव ऐसा ही है तो आज पश्चिम और अमेरिका में इस्लाम को समझने के बा'द लोग स्वेच्छा से इस्लाम धर्म क्यों स्वीकार कर रहे हैं ? अगर इस्लाम क़बाइली है तो विश्वव्यापी कैसे है ? सामंती भी कैसे है जबकि लोकतंत्र तो इस्लाम की ही देन है जो हज़रत मुहम्मद स.व. के ज़माने से चला आ रहा है. बादशाहत का कीड़ा तो बाद में लगा. आज भी सऊदी अरब में बादशाहत का ज़बरदस्त विरोध है. जहां-जहां शहन्शाहीयत है, वहां-वहां अवाम में लोकतंत्र के लिये आंदोलन चल रहे हैं. मुसलमानों की ख़राबियों को इस्लाम पर थोपना न्याय-संगत बात नहीं है. ज़ुरूरी है कि इस्लाम और उसकी तारीख़ का गहराई से अध्ययन किया जाए. सतह पर दिखने वाली चीज़ों से किसी नतीजे पर पहुंचना मुनासिब नहीं है. अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मतलब ये नहीं है कि करोड़ों मुसलमानों की आस्था और विश्वास पर चोट की जाए. राजेंद्र यादव को मुसलमानों से तकलीफ़ क्यों है ? ख़ुदाई ख़िदमतगार की बात वो करते हैं जबकि ख़ुदाई ख़िदमतगार वो ख़ुद नज़र आते हैं. उनका एक-एक जुम्ला चीख़-चीख़ कर कह रहा है कि मुसलमानो ! सुधर जाओ, संभल जाओ, वर्ना तुम्हारी दास्तान तक न होगी दास्तानों में. राजेंद्र यादव का बार-बार मुसलमानों को गरियाना इस बात का द्योतक है कि उनके अंदर एक नया बुश अपने कल-पुर्ज़े निकाल रहा है.)*

8. **मौलवी-मुल्ला, दूसरे ख़ुदाई ख़िदमतगार या तालिबान तय करते हैं कि मुसलमानों की जीवन-शैली क्या होनी चाहिये.** *(इस बेख़बरी पर कौन न मर जाए ए ख़ुदा ! इतना बड़ा झूठ ? उन मुट्ठीभर भटके हुए लोगों की ये औक़ात कि वो करोड़ों मुसलमानों के लिये कोड तय करें ! कोड तो मुहम्मद साहिब तय कर गये. हम तो उस पर भी ठीक तरह अमल नहीं कर पा रहे हैं, सो तालिबान की कैसे मानेंगे ? आज सारा आलमे-इस्लाम इन तथाकथित जिहादियों की भरपूर मज़म्मत कर रहा है.)*

9. **एक अच्छी-ख़ासी ख़ूबसूरत ज़बान धार्मिक राजनीति की शिकार होकर**

रह गयी है. (जी नहीं. हिंदू, हिंदी राजनीति का शिकार हो गयी. उर्दू के नामलेवा उसी डायलेमा से तो निकलना चाहते हैं! बहुत ज़ुरूरी है कि शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी की किताब 'उर्दू का इब्तिदाई ज़मानाः अदबी तहज़ीब व तारीख़ के पहलू' पर नज़र डाली जाए. इस किताब में उन्होंने उर्दू-हिंदी के क़ज़िये पर सैर-हासिल बहस की है. इस किताब का हिंदी में अनुवाद होना चाहिये ताकि उर्दू-हिंदी, देवनागरी व फ़ारसी लिपि के बारे में जो बार-बार 'फरकी-फरकी' शंकाएं उठायी जाती हैं, उनका कुछ समाधान हो सके. सच पूछिये तो यही उर्दू का ख़ास अलमीया है. जो अच्छी उर्दू लिख सकते हैं, वो अच्छी हिंदी नहीं लिख सकते. फिर उनसे कहा जा रहा है कि देवनागरी में लिखो, तो हम पढ़ेंगे; वगरना तर्जुमा कराओ. कितना कराओगे? किस-किस का कराओगे? और इस पर तुर्रा ये कि तथाकथित वैज्ञानिक लिपि नागरी में वो चाशनी ही पैदा न होगी जो ख़ालिस उर्दू में मौजूद है. उर्दू सिर्फ़ ग़ालिब, मीर, फ़िराक़ नहीं है. हिंदी से बड़ा ख़ज़ाना उर्दू के पास है. उन सब से आने वाली नस्लों को महरूम कर देना चाहते हैं नागरी-हिमायती. होना तो ये चाहिये कि उर्दू लिपि की वकालत की जाए ताकि ज़्यादा से ज़्यादा लोग उर्दू ख़ज़ाने से इस्तिफ़ादा कर सकें. नागरी के हिमायती तो उल्टी गंगा बहाना चाहते हैं. न तो नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी. न तो उर्दू का क्रीम नागरी में आ पाएगा और न हिंदी वालों को उर्दू की अज़्मत का पता चलेगा. और जो अच्छी-ख़ासी ज़बान है, उसे कहा जा रहा है कि अपनी ख़ूबियां छोड़ दो. बेशक लिपि ज़बान नहीं होती, मगर वो उसकी शनाख़्त होती है. पहले तो एक साज़िश के तहत अवाम को उर्दू लिपि से नाबलद किया गया, फिर सारा इल्ज़ाम लिपि पर धर दिया गया. पहले इब्तिदाई ता'लीम में हर सम्प्रदाय का आदमी उर्दू लिपि सीख लेता था. दरअस्ल लिपि ने उर्दू का नुक़्सान नहीं किया, बल्कि हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिये हिंदी राजनीति ने मुनज़्ज़म तरीक़े से उसे टकसाल बाहर किया.

जूल ब्लॉक के मुताबिक़ हिंदी तो 1857 के बाद आहिस्ता-आहिस्ता 'हिंदुओं की लेंग्वा फ्रांका' की शक्ल में नुमूदार हुई. लल्लूजीलाल ने गिलक्रिस्ट के ज़ेरे-असर अपनी मशहूर किताब 'प्रेम सागर' लिख कर सब कुछ बदल डाला. बक़ौले ब्लॉक उसके नस्री हिस्से बहैसियत मज्मूई उर्दू है, लेकिन उसमें फ़ारसी अल्फ़ाज़ की जगह हिंद-आर्याई अल्फ़ाज़ रख दिये गये. (उर्दू का इब्तिदाई ज़माना-पेज़ 40)

आधुनिक हिंदी के बावा आदम भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) तक उर्दू से निकल कर हिंदी में गये, बल्कि 'उर्दू बेगम की मौत' जैसी तन्ज़ीया तहरीरें लिखीं. भारतेंदु ने पलटा खाते वक़्त जो बातें कही थीं, वही आज राजेंद्र यादव दोहरा रहे हैं कि वे लिखते कुछ और हैं और पढ़ते कुछ और हैं. 1871 में भारतेंदु ये ऐलान कर चुके थे कि उनकी व उनकी क़ौम की औरतों की ज़ुबान उर्दू ही है. कहने का मतलब

ये है कि आधुनिक हिंदी के अस्तित्व में आने से पहले उर्दू अपनी आनोशान से क़ाइम थी. उसे धीरे-धीरे मिटाने की कोशिशें की गयीं. अब मज़ीद कोशिश लिपि के दबाव के आधार पर हो रही है. जिस तरह पचास सालों में उर्दू लिपि न जानने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है, उससे वाक़िई ये लगता है कि आने वाले ज़मानों में लोग उर्दू लिपि पढ़ने वालों को ढूंढ़ा करेंगे. फिर बलंदो-बांग कह दिया जाएगा कि अस्ल तो हिंदी ही थी, उर्दू तो एक शैली थी जो लचीली होकर हिंदी में ज़म हो गयी. यही वो ख़तरा है जिसकी तरफ़ से हर उर्दू-प्रेमी को सावधान हो जाना चाहिये.)

10. **उर्दू, संस्कृत और शास्त्रीय संगीत, सामंती कुलीनों और फुर्सती समाजों की अपनी उपज है.** *(जी नहीं. उर्दू तो आम-अवाम की 'लेंग्वा फ्रांका' के बतौर गलियों, बाज़ारों, घरों व लश्करों में पैदा हुई थी. सामंती ज़बान तो फ़ारसी थी.)*

11. **उर्दू का ज़ोर कर्मकांडी शुद्धता, नफ़ासत और उच्चारण पर है.** *(ये ख़याल भी बिल्कुल ग़लत है. साहित्य की कुछ विधाओं के अपने शास्त्र हैं, लेकिन गद्य में ऐसी कोई पाबंदी नहीं. इलाक़ाई असरात तो हर इलाक़े में नुमायां हैं गोकि ज़बान एक ही है. शुद्धता पर भी इतना ज़ोर नहीं है. रहा होगा कभी. जहां तक दूसरी ज़बानों के अल्फ़ाज़ अपने अंदर समोने का सवाल है, तो ये काम पाकिस्तान में ख़ूब हो रहा है. ब्लोचीं, सिंधी व पंजाबी के अल्फ़ाज़ उर्दू में रच-बस गए हैं. नफ़ासत के ज़माने गए. अब बलाग़त का ज़माना है.)*

12. **उर्दू मूलतः शाइरी की ज़बान है.** *(ग़लत, बिल्कुल ग़लत. अगर उर्दू सिर्फ़ शाइरी की ज़बान होती, तो नस्र किस ज़बान में लिखी जाती? दास्तानें किस ज़बान में लिखी जातीं? तारीख़, फ़ल्सफ़े और हिकमत की किताबें किस ज़बान में लिखी जातीं? विधाओं में तज्रिबे होते रहते हैं. इसके ये मा'नी नहीं कि पूरी ज़बान ही मुकफ़्फ़ा है! हक़ीक़त ये है कि उर्दू नस्र का अपना लहजा और रवानी है और उसमें शाइराना मिलावट को ऐब माना जाता है. हां, हवालों की बात और है.)*

ज़बान की ख़ूबसूरती ही है कि आधे शब्दों के अर्थ न जानते हुए भी उर्दू की शाइरी हमारे दिल में उतरती चली जाती है. *(क्यों साहेब! आप आधे शब्दों के अर्थ क्यों नहीं जानते हैं जबकि बक़ौल आपके उर्दू व हिंदी ज़बान एक ही है. इसलिये कि आपने या किसी ने उर्दू को उर्दू की तरह पढ़ा ही नहीं या पढ़ना ही नहीं चाहते या अनुवादों/लिप्यांतरण से अपना उर्दू-ज्ञान बढ़ाते हैं. क्या उर्दू के शेष आधे शब्दों को समझने के लिये हमेशा तर्जुमों व लिप्यांतरण का मुहताज रहना पड़ेगा? यही तो मस्अला है. उर्दू की सो कोल्ड तरक़्क़ी के लिये ये शर्त लगायी जा रही है कि उसे अपना फ़ितरी चलन छोड़ना होगा.)*

13. **अरबी, फ़ारसी या संस्कृत से लिये गए बहुत कठिन और 'मुर्दा'**

शब्द न हों तो उर्दू-हिंदी में मुझे कोई फ़र्क़ ही नहीं लगता. *(इसलिये नहीं लगता कि आपके संस्कार उर्दू-हिंदी-मिक्सचर के हैं. लेकिन जिन्होंने सिर्फ़ हिंदी माध्यम से ता'लीम हासिल की है, उन्हें 'शेष' की आम फ़हम उर्दू भी पल्ले नहीं पड़ती. वे उर्दू के क्लासिक को क्या समझ पाएंगे ?*

हर मस्अले की पेचीदगी को आसान करके देखने का नज़रीया हमें सही दिशा में नहीं ले जाता. हमें हर चीज़ को उसके कांटेक्स्ट में देखना पड़ेगा.)

भाषाएं शब्दों से नहीं, व्याकरण के अनुशासनों से बनती हैं. *(शब्द बिना, भाषा कैसे बनेगी; ये समझ से परे है. शब्द को ब्रह्म कहा गया है. उसके महत्व को कैसे नकारा जा सकता है. अगर शास्त्र ही साहित्य है तो फिर साहित्य किससे बनता है ? अगर भाषाएं व्याकरण के अनुशासनों से बनती हैं, तो उर्दू और हिंदी अलग भाषाएं क्यों हैं ? सिर्फ़ और सिर्फ़ व्याकरण से भाषाएं नहीं बनतीं. उसके निर्माण में सभी कारकों का समान महत्व होता है. जिसे उर्दू ज़बान की ख़ूबसूरती कहा जा रहा है, वो अल्फ़ाज़ और लहजे ही का तो कमाल है, व्याकरण तो दोनों जगह लगभग समान है. अरबी और फ़ारसी के अल्फ़ाज़ को 'मुर्दा' कैसे कहा जा सकता है ? अल्फ़ाज़ तो आप ही आप चलन में आते हैं. चलते हैं, घिसते हैं और एक दिन मतरूक हो कर टकसाल बाहर हो जाते हैं. ज़बानें तो दर्या की मानिंद होती हैं जो अपने साथ कंकड़-पत्थर, लोहा-लक्कड़ लेकर आड़े-तिरछे चलते/बहते हैं. ये उसका फ़ितरी अमल है. आज की उर्दू वो उर्दू नहीं है जो 18 वीं या 19 वीं सदी में थी.)*

14. उर्दू के विकास में सबसे बड़ी बाधा उसकी लिपि है. *(घूम-फिर कर बात लिपि पर आ जाती है. फ़ारसी की लिपि ही फ़ारसी है, फिर उसके विकास और चलन में बाधा क्यों नहीं है ? फ़ारसी तो कई और ज़बानों से ज़्यादा ख़ूबसूरत और मालदार ज़बान है—शॉर्ट एंड स्वीट ! ग़ैर जानकारी का ये आलम है कि फ़ारसी व अरबी को एक ही लिपि माना जा रहा है जबकि अरबी फ़ारसी से मुख़्तलिफ़ है. यहां तक कि सिंधी भी मुख़्तलिफ़ है. लिपि का मुआमला सिर्फ़ भावना, आस्था, अभ्यास और संस्कार का ही नहीं है, बल्कि ये रवायत का हिस्सा है और अपनी वरासत को महफ़ूज़ रखने का तरीक़ा है. माना कि देवनागरी केवल हिंदी की बपौती नहीं है, लेकिन देखना ये भी पड़ेगा कि ये हिंदी महारानी देवनागरी के रथ पर चढ़ कर कितनी भाषाओं/बोलियों को खा चुकी है. मेरे अपने मरु प्रदेश राजस्थान की मावड़ली भाषा (माना कि उसकी बोलियों में एकरूपता नहीं है) हिंदी से कहीं अधिक समृद्ध है, लेकिन हिंदी महारानी के आगे पानी भर रही है. कुछ बरसों पहले राजस्थानी का एक प्रतिनिधि मंडल राजस्थानी भाषा को मान्यता दिलाने के लिये इन्दिरा गांधी से भेंट करने गया था. इंदिरा ने कहा, अच्छा राजस्थानी बोल कर बताओ. कोई आम-सा*

वाक्य बोला गया. सुनते ही इंदिरा गांधी गुस्से में आ गयीं और मेमोरेण्डम उठा कर मुंह पर दे मारा कि ये तो हिंदी का ही रूप है, कोई अलग भाषा नहीं है. गेट आउट! जिस प्राचीन व समृद्ध भाषा में सिर्फ़ ऊंट जैसे बेकल जानवर के लिये सौ परिचायक शब्द हों, जिसमें विजयदान देथा जैसा महारथी हो, जिसमें कई बारहठ, लालस हों, जिसमें मीरा जैसी संत क़वयित्री हो, उसे हिंदी ने मृतप्रायः कर दिया जबकि वो पांच करोड़ लोगों की मावड़ली भाषा है. क्या इस मिसाल से ये साबित नहीं होता कि देवनागरी का पांसा फेंक कर मातारानी हिंदी उर्दू को भी मात दे देगी.)

15. विकासशील भाषाएं हमेशा लिपि की क़ैद से छूटने के लिए छटपटाती रहती हैं. *(दुरुस्त है. फिर हिंदी भी देवनागरी की क़ैद से निकलने के लिये छटपटा रही होगी! उसे रोमन लिपि में ढाल लिया जाए ताकि वो युनिवर्सल लेंग्वेज़ बन जाए. क्या तुक है! जहां तक अली सरदार जा'फ़री ने मीर व ग़ालिब की शाइरी देवनागरी में देने की वकालत की, उससे क्या साबित होता है? क्या सारी की सारी उर्दू, सिर्फ़ शाइरी ही है? नस्री अदब, फ़ल्सफ़ा और हिकमत को किस ज़ैल में रखेंगे? उर्दू में 'दीवाने ग़ालिब' कितना बिका है? (बिका होगा? उसे समझा कितनों ने होगा! हर चीज़ को महदूद करके देखने या उसे अलामत बना कर लिपि की मलामत करने की दलील समझ से बालातर है. राही मा'सूम रज़ा की तो बात ही छोड़िये. वो भी बुन्यादी तौर पर अश्क, प्रेमचंद की तरह उर्दू के अदीब/शाइर ही थे. रोटी-रोज़ी के लिये वो बंबई चले गए और बाक़ाइदा असाइनमेंटके ज़ोर पर उर्दू लिपि के मुख़ालिफ़ हो गए. एक वो ही नहीं, इस्मत चुग़ताई भी हिंदी लिपि की तरफ़दार थीं. वो आख़िरी उम्र में कितनी बहकी हुई थीं, इसका अंदाज़ा उनकी वसीयत से होता है कि क़ब्र का अंधेरा मुझ से बरदाश्त नहीं होगा, इसलिये मेरी लाश को जलाया जाए. दरअस्ल अंधेरा तो उनके ज़ेह्न में था. शानी हों, रज़ा हों या असग़र वज़ाहत—ये हिंदी के मतवाले दरअस्ल हमप्याला, हम निवाला की बदौलत हिंदी में अपना मुक़ाम बना सके हैं. ऐसे लोग ही तो हिंदी वालों की नज़र में सिम्बल बने हुए हैं.)*

अल मुख़्तसर, 'मेरी-तेरी उसकी बात' का हर जुम्ला भड़काऊ है और उसकी तफ़्सील में जाने से दोहराव बढ़ेगा. उर्दू रस्मुलख़त की मुख़ालफ़त में लोग चाहे जो दलीलें पेश करें, मेरी राय में उर्दू के लिये उसकी लिपि नाभि-नाल की तरह जुड़ी रहनी चाहिये. न सिर्फ़ ये, बल्कि जो इस लिपि में ता'लीम हासिल कर रहे हैं, उन्हें रोज़गार की गारंटी मिलनी चाहिये. राजेंद्र यादव अगर आंख उठा कर देखें, तो दारूल उलूमों व मदरसों में कई ख़ूबसूरत दोशीज़ाएं उर्दू सोफ़्टवेयर के कम्प्यूटर पर जुटी हुई नज़र आएंगी. अलबत्ता इतना है कि वो शॉर्ट में नहीं, दुपट्टे में नज़र आएंगी. ये सरासर इल्ज़ाम है कि सारे मदरसों में या तो दहशतगर्द पैदा किये जा रहे हैं या दक़ियानूस

मुल्ला-मौलवी. ये दारूलउलूम और मदरसे ही हैं जो उर्दू को खाद-पानी दे रहे हैं, वर्ना उर्दू मुख़ालिफ़ लोग इस चमन को उजाड़ने पर तुले हुए हैं. ये तालीमी इदारे आधुनिकता के भी विरोधी नहीं हैं, बल्कि ज़माने के साथ क़दम से क़दम मिला के चल रहे हैं. उर्दू लिपि में पढ़ने वाला छात्र हिंदी और अंग्रेज़ी से अनभिज्ञ नहीं होता है. कई तो प्रतियोगी परीक्षाओं में भी कामयाब हो रहे हैं. फिर बताइये परिवर्तन विरोधी कैसे हैं ? रोज़गार किसे नहीं चाहिये ?

लेकिन फिर भी.....सब ठीकठाक नहीं है. मस्अला सिर्फ़ रस्मुलख़त का नहीं है. बल्कि कुछ और भी पहलू हैं जो माद्धी ज़िंदगी से जुड़े हुए हैं. मुझे मा'लूम है कि ताज़ा हवा के झोंके इधर भी आ रहे हैं गो कि कम-कम ! लेकिन मुस्लिम क़ौम में अपनी शनाख़्त व तरक़्क़ी के लिये बेदारी आ चुकी है जिसे फ़रोग़ देने की ज़ुरूरत है.

—हसन जमाल

10-11-2003

प्रिय हसन जमाल जी,

आपकी प्रतिक्रिया इसलिए लौटा रहा हूं कि यह एक श्रद्धावान धार्मिक का विस्फोट है. विज्ञान और तर्क धार्मिक आस्था नहीं देखते. आप भी लिपि और भाषा के आपसी संबंधों पर बात न करके गालियां देने लगते हैं. तर्क के नाम पर वही बासी नारा कि हम ऐसा मानते हैं, इसलिये ऐसा ही है. भाषा-विज्ञान दोनों को अलग करता है. वहां कोई भी विवेकवान बात आपसे कहां की जा सकती है ! आप यह भी नहीं बता पाते कि देवनागरी हिंदी की ही बपौती क्यों है और मराठी, नेपाली या संस्कृत की क्यों नहीं ?

आप लोग मंदिर-मस्जिद में बैठ कर पूजा-पाठ क्यों नहीं करते ? साहित्य में बहस करने क्यों चले आते हैं ? *आप भाषा का विकास नहीं, पूजा चाहते हैं.*

जब तक मैं हिंदू धर्म की चीर-फाड़ करूं तब तक धर्मनिरपेक्ष हूं मगर जैसे ही इस्लाम पर बोलूं तो साम्प्रदायिक हो जाता हूं. दोनों ही आरोप लगाते हैं कि मैं इन दोनों धर्मों के बारे में कुछ नहीं जानता.

वैसे भी आपकी टिप्पणी बहुत लम्बी है. इसमें से गालियां निकाल दूं, तो शायद एक पैरा ही रह जाये.

राजेंद्र यादव

एक ख़त रिकार्ड में से

जनचेतना का प्रगतिशील कथा-मासिक
हंस
सम्पादक : राजेन्द्र यादव

2/36, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 23250047, 23270377

दिनांक 23-5-2003

प्रिय हसन जमाल जी,

माफ़ कीजिए आपके मौसमी मिज़ाज के ज्वार-भाटे के साथ अपने आपको बदलते रहना मेरे लिए मुश्किल है. आप सुबह कुछ होते हैं, शाम को कुछ और. समझ में नहीं आता कि किस पर यक़ीन किया जाए ? जो भी आपके इस गिरगिटिया रंग का साथ नहीं देता उसे आप फ़ौरन ही मरने की दुआ देने लगते हैं. शायद आपको यक़ीन है कि हज हो आने की वजह से आपमें एक रूहानी ताक़त आ गई है और जिस पर जो लानत भेजेंगे वह फ़ौरन ही कारगर होगी. मुझे ऐसे मज़हबी लोगों से रोज़ दो-चार होना पड़ता है इसलिए अब मैं बुलेट-प्रूफ़ हो गया हूं.

आप जिस तरह ब्लेकमेल करके, धमकाकर और गालियां देकर लोगों से अपनी बात मनवाना चाहते हैं, वह क्या हर जगह मुम्किन है ? आपके साथ दिक़्क़त यह है कि आप 50 प्रतिशत पर्सनल हैं, तो 50 प्रतिशत इरैशनल. तर्क से बात कर सकना शायद आपसे मुम्किन नहीं है. उर्दू यदि मुसलमानों की धार्मिक भाषा है और लिपि का मसला उनकी धार्मिक भावनाओं से जुड़ा हुआ है तो फिर पूरे दक्षिण भारत, बंगाल, असम को क्यों नहीं नेस्तनाबूद कर देते, जहां कोई उर्दू का नामलेवा नहीं है ? आप ही जैसे लोगों ने बंगला देश बनवाया था—उर्दू लादकर. दूर क्यों जाएं ख़ुद आपके हिन्दी इलाक़े यानी बिहार-उत्तर प्रदेश में नई पीढ़ी उर्दू साहित्य को देवनागरी लिपि में पढ़ती है. अगर इस लिपि से आप इतनी ही नफ़रत करते हैं, तो क्यों हर बार शेष नाम की पत्रिका हम लोगों को पढ़वा रहे हैं ? मैं यह मानता हूं कि जो भाषाएं धर्म के साथ जुड़ जाती हैं, वे मर जाती हैं और उन्हें सिर्फ़ धार्मिक लोग ही पढ़ते हैं. बाकी लोगों के लिए वे बेकार हैं. अच्छा है, आप धर्म से मिला कर उर्दू को भी संस्कृत की तरह दफ़नाने की तैयारी में लगे हैं. हाय, कितनी ख़ूबसूरत ज़बान थी संस्कृत; सारी दुनिया के किस बड़े से बड़े विद्वान ने उसकी तारीफ़ों में क़सीदे नहीं पढ़े ? बहरहाल, उर्दू आपका ज़ाती मामला है. आप उसके साथ जो करें किसी की सेहत पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला.

मैं चाहता हूं कि कुछ दिनों आप मुझे भी शांति से रहने दें और ख़ुद भी शांति से रहें. पचासों पत्रिकाएं हैं जिनमें आप अपनी धमकियों के साथ कहानियां छपा सकते हैं. और कुछ नहीं तो पत्नी के नाम की आड़ लेकर अपना बुग़्ज़ निकाल सकते हैं.

ख़ुदा आपको मानसिक संतुलन दे. ❑

राजेंद्र यादव

जनाबे शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी का मश्वरा

2 दिसम्बर 2003

आपका ख़त अभी मिला. पढ़ कर ख़ासी कोफ़्त हुई. मुझे हिंदी पढ़ने में कुछ मुश्किल होती है और हाथ से लिखी हुई हिंदी तो पढ़ना बहुत ही मुश्किल हो जाता है. फिर भी मैंने राजेंद्र यादव का ख़त कोशिश करके पढ़ डाला. कोई शक नहीं कि उनका ख़त बहुत बेहूदा है. लेकिन आपकी रंजीदगी भी ग़ैर ज़ुरूरी मा'लूम होती है. उन्होंने आपका मुरासला वापस करके और उसके बारे में कई क़ाबिले-ए'तिराज़ बातें कह कर अपने दिल की कमीनगी और रूह की गंदगी काग़ज़ पर उंडेल दी है. उन्होंने न आपको ज़लील किया, न आपकी कोई तौहीन की. जिस तरह की बातें वो आजकल लिखते और लिखवाते रहे हैं, उनसे साफ़ मा'लूम होता है कि अब उन्होंने आरएसएस में शुमूलीयत हासिल कर ली है. और कुछ अजब नहीं कि इधर जो चार रियासतों में इंतिख़ाब हुए हैं, उनको नज़र में रखते हुए उन्हें कुछ हिदायत दी गयी हो. लिहाज़ा जब सारा मुआमला सियासी है, तो इसमें हमारा आपका दख़्ल क्या हो सकता है !

मेरा ये मश्वरा आपको ज़ुरूर है कि आइंदा इस तरह के मौज़ू' पर कुछ लिखें तो मुख़्तसर लिखें और मज़्हबी मुआमलात को बीच में न आने दें.....राजेंद्र यादव ने आपको लिखा है कि जब तक मैं हिंदू फ़िरक़ापरस्ती के ख़िलाफ़ लिखता रहा, उस वक़्त तक मैं आप लोगों का हीरो बना रहा, लेकिन अब जब मैं इस्लाम पर कुछ लिख रहा हूं तो आप मुझे फ़िरक़ापरस्त कहने लगे हैं. मेरे ख़याल में आप उनको बस इतना लिख दीजिये कि उनकी पिछली और ताज़ा तहरीरों में फ़र्क़ सिर्फ़ ये है कि पिछली तहरीरें हिंदू धर्म या हिंदू लोगों के ख़िलाफ़ नहीं थीं, बल्कि हिंदू फ़िरक़ापरस्ती के ख़िलाफ़ थीं और आपकी ताज़ा तहरीरें मुस्लिम धर्म और मुस्लिम लोगों के ख़िलाफ़ हैं. आप मुस्लिम फ़िरक़ापरस्ती के ख़िलाफ़ लिखिये, हम आपकी आवाज़ में आवाज़ मिलाएंगे. ❑

एडिटर 'शबख़ून', 313 रानीमंडी, इलाहाबाद

विनय कटियार के सर्टिफ़िकेट की ज़रूरत नहीं !

रामप्रकाश कपूर

जनाब विनय कटियार, सद्र-उत्तर प्रदेश बीजेपी का ये बयान कि 'उर्दू दहशतगर्दों की ज़ुबान है' पढ़ कर बहुत अफ़सोस हुआ. सख़्त ज़ेह्नी कोफ़्त हुई. वैसे उर्दू ज़ुबान को विनय कटियार जैसे ता'स्सुबी और तंग नज़र लोगों के सर्टिफ़िकेट की ज़ुरूरत नहीं.

उर्दू सिर्फ़ एक ज़ुबान ही नहीं है, और भी बहुत कुछ है. ये हमारी मुश्तरिका गंगा-जमुनी तहज़ीब की तस्वीर है. हमारा मुश्तरिका क़ौमी वरसा है, जो सैंकड़ों साल के दो तहज़ीबों के मेलजोल से वुजूद में आयी. इसने हमें बंटे न होने का तसव्वुर बख़्शा है. ये एक ऐसी ज़ुबान है जिसने हिंदुस्तान की इज्तिमाई तवारीख़ के दौरे-जदीद में निहायत ग़ैर मा'मूली रोल अदा किया है. जिसने 'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा' और 'मेरा वतन वही है' जैसे क़ौमी तराने और 'इंक़िलाब ज़िंदाबाद' व 'झंडा ऊंचा रहे हमारा' जैसे जोशीले ना'रे दिये हैं.. 1857 की पहली जंगे-आज़ादी से ले कर 1947 की आज़ादी तक उर्दू के सैंकड़ों हज़ारों अदीबों, शाइरों और दानिश्वरों ने अपनी ज़िंदगियां आज़ादी की राह में क़ुर्बान कीं. मशहूर इंक़िलाबी रामप्रसाद बिस्मिल का ये शे'र :

हस्रत से दरो-दीवार पे नज़र करते हैं
ख़ुश रहो अहले-वतन हम तो सफ़र करते हैं

गुनगुनाते हुए सैंकड़ों नौजवान अंडमान-निकोबार (काला पानी) की तरफ़ जलावतनी के सफ़र पर गये और शाह मुहम्मद हसन बिस्मिल अज़ीमाबादी की ग़ज़ल :

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
देखना है ज़ोर कितना बाज़ुए-क़ातिल में है
वक़्त आने दे बता देंगे तुझे ए आस्मां !
हम अभी से क्या बताएं, क्या हमारे दिल में है

गाते हुए सरदार भगतसिंह व साथी और दूसरे सैंकड़ों नौजवान हंसते-हंसते फांसी पर झूल गये. शाइरे-इंक़िलाब हज़्रत जोश मलीहाबादी की नज़्म 'ईस्ट इंडिया कम्पनी के फ़र्ज़िन्दों से' गाता हुआ तलबा का एक जुलूस 1942 में इलाहाबाद में अंग्रेज़ी हुकूमत की लाठी-गोली का शिकार हुआ. टीकाराम 'सुख़न' की ये ग़ज़ल :

शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले
वतन पर मरने वालों का यही बाक़ी निशां होगा

आज भी अक्सर शहीदों की याद में गायी जाती है. हरियाणा के मुजाहिदे-आज़ादी आंजहानी मेहरचंद आहूजा, जो रावलपिंडी से हिज्रत करके हरियाणा तशरीफ़ लाये थे, ने अपने एक मज़्मून में लिखा था :

उर्दू वाले अदबी सत्ह पर कुछ भी समझें, लेकिन ये एक ज़िंदा हक़ीक़त है कि उर्दू ने हिंदुस्तान की तहरीके-आज़ादी में भरपूर मुजाहिदाना रोल अदा किया है. ये ज़ुबान हम मुजाहिदों का, आज़ादी के सिपाहियों का ओढ़ना-बिछौना रही है. उर्दू हमारी रहनुमा है. हम आज़ादी के मुज़ाहिदीन की जिस ज़ुबान ने फ़िरंगी हुकूमत की बुन्याद में शिगाफ़ डाले, वो ज़ुबान उर्दू ही थी. ये भी मेरा ईमान है कि उर्दू ने दूसरी ज़ुबानों के मुक़ाबले में हुब्बुलवतनी (राष्ट्रीय प्रेम) के जज़्बों को सबसे ज़ियादः ताक़त पहुंचायी.....उर्दू को मैं कल भी एक तहरीक समझता था और आज भी एक तहरीक समझता हूं. ये वो ज़ुबान है जिसका फैलाव हिमालय की बलंदियों से गंगा-जमुना की लहरों तक फैला हुआ है. आज़ादी के इंक़िलाब की जब मुझे याद आती है, तो मैं कहता हूं कि बांके बाबू, रवि ठाकुर, लोकमान्य तिलक बाल पाल लाल जैसे क़द्दावर आज़ादी के मुजाहिदों ने जब लोगों को 'क्रांति अमर रहे' का ना'रा दिया तो अवाम पूरी तरह न समझ सके. लेकिन जब सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त ने असेम्बली हॉल में बम फेंकते वक़्त दो लफ़्ज़ 'इंक़िलाब ज़िंदाबाद' ललकारे तो हिंदुस्तानियों को इंक़िलाब के मा'नी मा'लूम हो गये. ये सब लिखने और हवाला देने से मेरा मत्लब दूसरी ज़बानों: हिंदी, पंजाबी, तमिल, तेलुगू, बंगाली, मलयालम, सिंधी वग़ैरह की वाज़ेह अहमियत को नज़रअंदाज़ करना या उन्हें दूसरी हैसियत देना नहीं है. हमारे आईन में जिन ज़बानों को जगह दी गयी है, उन सब ज़बानों ने और दीगर इलाक़ाई ज़बानों ने भी मादरे-वतन को विदेशी सामराज की फ़ौलादी गिरिफ़्त से आज़ाद कराने के लिये अपना-अपना फ़र्ज़ पूरा किया है. फिर भी उर्दू के बारे में क़ाबिले-ग़ौर बात ये है कि हमारी राष्ट्रीय भाषा हिंदी का ही रूप है. हिंदी की तरह बोली और समझी जाती है और कश्मीर से कन्याकुमारी तक और कामरूप से काठियावाड़ तक हमारे करोड़ों हमवतन भाइयों के जज़्बात, उम्मीदों और उमंगों की तर्जुमानी करती है. ये सच है कि जिस ज़माने में मैंने

स्कूली ता'लीम हासिल की थी, तो उर्दू ही चलती थी. मैट्रिक तक मेरा मीडियम उर्दू ही था. उस वक़्त सियासी कारकुनों की तक़रीर व तहरीर का ज़रीआ सिर्फ़ उर्दू ही थी. पंजाब, सिंध, बलोचिस्तान, कश्मीर और उत्तरी हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में भी तक़रीबन यही हालत थी.....

ऐसी अज़ीम और सुनहरी रवायात की ज़बान को आज जनाब विनय कटियार जैसे बौने लोग दहशतगर्दों की ज़बान करार देते हैं, निहायत शर्म की बात है. बहुत साल पहले जनाब पंडित अमृतलाल ने उर्दू के बारे में कहा था :

नक़्शे-तहज़ीब का है उन्वान उर्दू
आस्मानों से ऊंचा है मक़ामे-उर्दू
ये फ़क़त उम्मते-इस्लाम की ही मीरास नहीं
कैफ़ी व कृश्न भी हैं आज इमामे-उर्दू

जिस वक़्त आईनसाज़ असेम्बली में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 8 वीं शेड्यूल में शामिल दूसरी क़ौमी ज़बानों की फ़ेहरिस्त पेश की, तो उर्दू भी उसमें शामिल थी. इस पर हिंदी के महारथी जबलपुर के मेम्बर पार्लियामेंट जनाब सेठ गोविंददास ने ऊंची आवाज़ में चिल्ला कर कहा, ''भला उर्दू किस की मादरी ज़बान हो सकती है ?'' इस पर पंडित नेहरू ने उसी तरह चिल्ला कर जवाब दिया, ''उर्दू मेरी मां और दादी की ज़बान है.'' और इस तरह उर्दू 8 वीं शेड्यूल में शामिल रही. आज बहुत कम लोगों को मा'लूम होगा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू की शादी का दा'वतनामा मोतीलाल नेहरू की तरफ़ से उर्दू में, सिर्फ़ उर्दू में ही जारी किया गया था. और उस ज़बान को विनय कटियार साहब दहशतगर्दों की ज़बान क़रार देते हैं. नहीं, विनय कटियार साहब ! उर्दू हमारी अपनी ज़बान है. दहशतगर्दों की ज़बान नहीं. मैं तो अक्सर उर्दू वालों से कहा करता हूं :

तिरी बातों में ये ख़ुशबू न होती
अगर तेरी ज़बां उर्दू न होती ❑

(क़ौमी आवाज़, नई दिल्ली-25-9-03)
(बशुक्रिया ख़लील तनवीर, उदयपुर)

एलसीजी, 40, पीएचए, सेक्टर 28, गुड़गांव (हरियाणा)

गोपीचंद नारंग का इन्दिया

अपने हमदर्द मसीहा तो बहुत हैं लेकिन
ज़ख़्म को छेड़ के नासूर बना देते हैं
(क़ाबिल अजमेरी)

ख़लील तनवीर

गोपीचन्द नारंग मर्कज़ी साहित्य अकादमी के चेयरमेन बनने के बा'द एक ख़ुमार और सुरूर की कैफ़ीयत में हैं. वह समझने लगे हैं कि जो कुछ वह कहेंगे, उनका कहा हुआ क़ाबिले-एतबार समझा जाएगा. फिर उनका मुआमला कुछ इस तरह है कि साफ़ छुपते भी नहीं, सामने आते भी नहीं. उन्होंने अपने इण्टरव्यू में कहा कि बेशक उर्दू की बुन्याद हिन्दी है. इससे तो उनका यही इन्दिया (राय) ज़ाहिर होता है कि उर्दू हिन्दी का एक उस्लूब या शैली है. जबकि माहिरे-लिसानियात (भाषा-विशेषज्ञ) अब तक ये मानते रहे हैं कि उर्दू और हिन्दी की बुन्याद खड़ी बोली पर है. जब खड़ी बोली का इर्तिक़ा (विकास) शुरू हुआ तो जिस उस्लूब ने सबसे पहले अपने पैर जमाए, वह उर्दू का उस्लूब था, इसी उस्लूब में अदब की तख़्लीक़ (सर्जन) होने लगी. हिन्दी के दयानतदार अदीब भी इस बात का ए'तिराफ़ करते हैं कि उर्दू पहले और हिन्दी बाद में शुरू हुई ! हिन्दी के आलिम रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में ये माना है कि खड़ी बोली उर्दू की शक्ल पहले बनी और हिन्दी का रूप बा'द में वुजूद में आया। हिन्दी कवि शमशेर बहादुर सिंह अपने एक इण्टरव्यू (20 अक्टूबर 1985, इतवारी पत्रिका, जयपुर) में कहते हैं कि हिन्दी प्रदेशों में उर्दू-हिन्दी का विवाद फैला कर हिन्दी को सर्वोपरि करने की राजनैतिक कोशिश की जा रही है. उर्दू की परम्परा, हिन्दी को बनाने में उसकी भूमिका आदि सबको भुलाकर भाषाई आधार पर लोगों को लड़ाने की सुनियोजित व सूक्ष्म कोशिश की जा रही है.'

रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'समाज और भाषा' में उर्दू भाषा को लेकर बड़ी ठोकरें खाई हैं. वह भी ये लिखने को मजबूर हुए कि उत्तर भारत का बहुत-सा

साहित्य ब्रजभाषा में रचा गया था, लेकिन हमारे जातीय विकास की विशेष परिस्थितियों में खड़ी बोली तो भाषा बन गयी और ब्रजभाषा रह गयी एक बोली के रूप में. लेकिन रामविलास शर्मा ये स्वीकार करने से कतराते हैं कि खड़ी बोली से जो भाषा बनी, वह उर्दू थी. लेकिन फिर आगे कहते हैं कि 'उर्दू के आधार पर हिन्दी रची भी गयी तो इसमें बेजा क्या है ? उर्दू क्या खड़ी बोली से कोई भिन्न भाषा है. हिन्दी-उर्दू एक ही खड़ी बोली की दो साहित्यिक शैलियाँ हैं वे एक-दूसरे को प्रभावित न करें तो आश्चर्य की बात होगी !'

इसी इण्टरव्यू में नारंग साहब फ़रमाते हैं 'मज़हब के नाम पर बंटवारा हुआ लेकिन मज़हब को बालाए-ताक़ रखकर जुबान के नाम पर बंगला देश वुजूद में आ गया.'' क्या वाक़िई बंगलादेश को बनाने में ज़ुबान ही ख़ास सबब था या मुख्य रूप से मआशी (आर्थिक) असबाब थे जिस की वज्ह से बंगलादेश वुजूद में आया. रसूले-अकरम की हदीस है कि **'जब हक़दार को उसका हक़ नहीं दोगे तो वह बग़ावत करेगा.'** जब बंगलादेशियों को उनके हक़ से महरूम रखा गया, तो बंगलादेश वुजूद में आया.

गोपीचन्द नारंग की ये रविश भी क़ाबिले-ग़ौर है, कि उन्होंने मौजूदा दौर के उन्हीं शाइरों और अदीबों पर लिखा जिनसे किसी तरह के फ़ाइदे की उम्मीद थी. जैसे मुहम्मद अल्वी, सलाहुद्दीन परवेज़, साक़ी फ़ारूक़ी और फ़ैज़ अहमद फ़ैज़. कभी उन्हें ख़लीलुर्रहमान आज़मी, बिमल कृश्न 'अश्क', राजेन्द्र बानी, ज़ेब ग़ौरी और कृश्नकुमार 'तूर' पर लिखने का ख़याल नहीं आया. ❑

4/800 गांधी नगर, मल्लाह तलाई, उदयपुर (राज.)

लघुकथा:

बयान

—अनवर सुहैल

''अब्बू, आप किस छाप में बटन दबाएंगे ?''

चुनावी अफ़रा-तफ़री से सने माहौल में हमीद की जिज्ञासा...

शकीलुर्रहमान साहब अख़बार में डूबे थे.

हाथ उठाकर बताया—''पंजा छाप''.

जाने क्या सोचकर उन्होंने अचानक अपना बयान बदला—''नहीं बेटा, जो कोई पूछे तो 'कमल' बताना !'' ❑

IV-3, बिजुरी, शहडोल (म.प्र.) 484440

उर्दू अदीब की सूरते-हाल

(बाराबंकी से एक ख़त : दिसम्बर 93/फ़रवरी 94)

डियर एडिटर,

इस वक़्त जब मैं आपके रिसाले के ख़ास शुमारे के लिये लिखने बैठा हूं. मैंने पिछले तीन महीने उत्तरी हिंदुस्तान के एक छोटे-से शहर बाराबंकी में गुज़ारे हैं जो शिकागो में अदब के सेमिनारों से हज़ारों मील दूर वाक़े' है. दूसरी तरफ़, बाराबंकी उत्तर प्रदेश के सद्र मक़ाम लखनऊ से, जो कभी अपनी नफ़ीस उर्दू के ज़ेरे-असर तहज़ीब के लिये मा'रूफ़ था और अब रोज़-ब-रोज़ ज़वाल का शिकार है, सिर्फ़ सतरह मील दूर है और अयोध्या से सिर्फ़ सत्तर मील के फ़ासिले पर जहां एक साल पहले एक बेक़ाबू हुजूम ने, चंद निहायत होशियार लोगों की क़ियादत में सोलहवीं सदी की बनी हुई एक मस्जिद को गिरा दिया था. चंद हफ़्ते पहले एक मुशाअरे में, जिसमें सैंकड़ों सुनने वाले मौजूद थे, मैंने एक शाइर को अपने इस सपाट शे'र पर बेपनाह दाद पाते सुना था :

सब मिरे चाहने वाले हैं, मिरा कोई नहीं
मैं भी इस मुल्क में उर्दू की तरह रहता हूं

इन हालात में मुझे उर्दू फ़िक्शन में 'तिलिस्मी हक़ीक़तनिगारी' या माबा'द जदीद दौर में एब्सर्ड अफ़साने के ज़वाल जैसे मौज़ूआत पर बात करने की कोई ख़ास ख़्वाहिश महसूस नहीं होती. मैं सिर्फ़ उर्दू के बारे में बात कर सकता हूं और इस बारे में कि हिंदुस्तान में उर्दू का अदीब होना आज क्या मा'नी रखता है. इसलिये मैं इसी मौज़ू' पर बात करूंगा.

उर्दू हिंदुस्तान की उन सोलह-सतरह ज़बानों में से एक है जिन्हें संविधान में तस्लीम किया गया है और मुझे मा'लूम हुआ है कि 1981 की जनगणना में उर्दू बोलने वालों की ता'दाद साढ़े तीन करोड़ बतायी गयी है. फिर भी कोई इलाक़ा इस ज़बान से मख़्सूस नहीं है. बरसों पहले किसी धुंधली सियासी तहरीक के ज़ेरे-असर इसे कश्मीर में रियासती ज़ुबान का दरजा देने का ऐ'लान किया गया था, लेकिन उस बदबख़्त रियासत के लोगों की मादरी ज़बानें कश्मीरी, डोगरी और लद्दाख़ी हैं, न कि

उर्दू. दूसरी तरफ़ उन रियासतों में जहां उर्दू बोलने वाले लोग सदियों से जीते और मरते आये हैं, उर्दू को दूसरी रियासती ज़बान का मुकम्मल दरजा भी हासिल नहीं. *(मेरी वालिदा ने हाल ही में अपनी वसीयत उर्दू में तहरीर की, लेकिन उसे सरकारी तौर पर रजिस्टर कराने के लिये उन्हें उसका हिंदी में तर्जुमा कराना पड़ा.)* लखनऊ और बाराबंकी के उर्दू बोलने वाले बच्चे प्राइमरी और सैकण्डरी सत्ह की ता'लीम उर्दू में हासिल नहीं करते. *(मैं अपनी बहन को उर्दू में ख़त लिखता हूं जबकि ख़ुद उसे अपने बेटों से हिंदी में ख़तो-किताबत करनी पड़ती है.)*

शायद मुझे कहना चाहिये कि उत्तरीय हिंदुस्तान के उर्दू बोलने वाले बच्चे प्राइमरी और सैकण्डरी सत्ह की ता'लीम अपनी मादरी ज़बान में हासिल नहीं कर सकते—हालांकि हिंदुस्तान के आईन में उन्हें ये हक़ दिया गया है—क्योंकि रियासत उन्हें इसकी सहूलत फ़राहम करने से इन्कार करती है. दरहक़ीक़त रियासत ने वो सहूलतें भी ख़त्म कर दीं जो अंग्रेज़ों के दौर में मुहैया थीं. जब हिंदुस्तान की आज़ादी के कुछ ही अर्से बा'द, ये वाक़िआ पेश आया तो बहुत से मुसलमान वाल्दैन ने अपने बच्चों को मद्रसों में भेजना शुरू कर दिया जो बुन्यादी तौर पर मज़हबी ता'लीम के इदारे थे और हैं. इससे पहले मद्रसों में बच्चे नाज़रा—या'नी मा'ना समझे बग़ैर—कुर्आन पढ़ते और इस्लामी अक़ीदे के बुन्यादी बिंदु सीखते थे. अब इसी तनाज़ुर में, वहां उन्हें उर्दू लिखना, पढ़ना भी सिखाया जाता है, लेकिन इस के सिवा किसी और मज़्मून की ता'लीम नहीं दी जाती. यहां से फ़ारिग़ हो कर ये बच्चे आम स्कूलों में पहुंचते हैं और तक़रीबन हर मज़्मून में ख़ुद को अपने हमसबक़ों से पिछड़ा हुआ पाते हैं. मुम्किन है, मद्रसे की ता'लीम ने उन्हें बेहतर मुसलमान बना दिया हो, लेकिन ज़िंदगी के आम मुक़ाबलों में हिस्सा लेने के लिये वो मुनासिब तौर पर तैयार नहीं होते और उर्दू के जिस अज़ीम वरसे के बारे में हमेशा बलंद-बांग दा'वे किये जाते हैं, उससे भी पूरी तरह आशना नहीं होते.

उर्दू के बारे में एक दा'वा जो मुस्तक़िल किया जाता है, ये है कि मेलजोल की अलामत है, कि ये ईरानी और हिंदुस्तानी तहज़ीब या मुसलमानों और हिंदुओं के तालमेल की निशानी है. आज इस क़िस्म का दा'वा कुछ ज़ियादः मा'नी नहीं रखता. आज हिंदुस्तान में उर्दू तक़रीबन मुसलमानों की ज़बान हैं, मगर तमाम मुसलमानों की नहीं. मिसाल के तौर पर ये बंगाल और केरल के मुसलमान मछेरों की ज़बान नहीं है और न नोर्थ हिंदुस्तान के क़स्बों और देहातों में रहने वाले अनपढ़ निचले तबक़े की औरतों की ज़बान है. ज़ियादः से ज़ियादः शह्री मुसलमानों, ख़ास तौर पर मर्दों और ज़ियादः ख़ास तौर पर नोर्थ हिंदुस्तान में रहने वालों की ज़बान कहा जा सकता है और यही वो लोग हैं जिन्हें रियासत की जानिब से, उर्दू के साथ बैर-भाव का क्लचरल ख़तरा महसूस होता है. मुम्किन है ये वो लोग हों जिनके पुरखों ने मुस्लिम क़ौम

परस्ती का ना'रा लगाया और पाकिस्तान बनाया, लेकिन क्या ज़ुरूरी है कि बापों के किये हुए 'गुनाहों' की सज़ा उनकी औलाद को दी जाए?

'उर्दू बड़ी शीरीं ज़बान है.' मैं शुमार नहीं कर सकता कि मैंने ये जुम्ला कितनी बार दूसरी हिंदुस्तानी ज़बानें बोलने वालों से सुना है, ज्यों ही उन पर खुलता है कि मैं उर्दू बोलता और पढ़ाता हूं. लेकिन क्या उन्हें ख़ुद अपनी ज़बानें मीठी मा'लूम नहीं होतीं? आख़िर वो उर्दू की इस मिठास को किस पैमाने से नापते हैं? बदक़िस्मती से इस जुम्ले का मत्लब फ़क़त ये होता है कि वो एक ख़ास अंदाज़ की गायकी के रसिया और 'मेरे महबूब', 'पाकीज़ा' और 'चौदहवीं का चांद' जैसे नामों वाली फ़िल्में देखने के शौक़ीन हैं. उनके नज़दीक उर्दू महज़ ग़ज़लिया शाइरी और तवाइफ़ और उसके पालनहारों पर मुश्तमिल कल्चर का नाम है. इस तरह मा'लूम होता है कि उर्दू की मिठास दरअस्ल इस क़िस्म के कल्चरल माहौल की तरफ़ इशारा करती है जिसे पतनशील और जागीरदाराना कहा जाता है.

फिर उर्दू बोलने वालों में ऐसे लोग हैं जो फ़ख़्र से ऐ'लान करते हैं कि 'उर्दू सबसे शीरीं ज़बान है.' उनके ज़ेह्नों में भी इससे मिलती-जुलती बात होती है. फ़र्क़ ये है कि वो इससे तहज़ीबी नफ़ासत मुराद लेते हैं. ये अजीब बात है कि मैंने कभी किसी उर्दू बोलने वाले की ज़बान से मराठी या तमिल के मीठी होने की बात नहीं सुनी. फिर भी वो लोग ये सिफ़त 'ब्रज' और 'अवधी' जैसी बोलियों के लिये ज़ुरूर इस्तेमाल करते हैं—कि इस सूरत में उनके ज़ेह्न में गांव की अल्हड़ा दोशीज़ाओं और देहाती रस्मो-रिवाज का तसव्वुर पैदा होता है. चुनांचे किसी ज़बान के 'शीरीं' कहलाने के लिये ये ज़ुरूरी है कि उसका तसव्वुर किसी दूर-दराज़ की चीज़ के तौर पर किया जाए जो नॉस्टेलजिया का हिस्सा हो, बल्कि जिसमें किसी हद तक ज़वाल की तरफ़ गिरने का इशारा मौजूद हो. हिंदुस्तान में उर्दू के मुस्तक़बिल का अंदाज़ा लगाने के लिये ग़ज़ल गाने वालों की बढ़ती हुई ता'दाद और मक़्बूलियत पर भरोसा करना उतना ही ख़तरनाक है जितना हिंदुस्तानी टेलीविज़न पर किसी ग़ज़ल शो के लिये लगाया गया 'मुस्लिम' डिज़ाइन का सेट. इसी टेलीविज़न पर जिस के लखनऊ स्टेशन से उर्दू में दिन में सिर्फ़ एक बार पांच मिनट की ख़बरें टेलीकास्ट की जाती हैं और हफ़्ते में एक बार आधे घंटे का एक और प्रोग्राम. इसके बरख़िलाफ़ हिंदुस्तान की ब्रॉडकास्ट मिनिस्ट्री बहुत-सी मेहनत और पैसे ख़र्च करके 'उर्दू मज्लिस' के नाम से रोज़ाना कई घंटे के प्रोग्राम नस्र करती है जिनका रुख़ पाकिस्तान की तरफ़ होता है.

ये ता'ज्जुब की बात नहीं कि हिंदुस्तान के उर्दू अदीब एक अजीबो-ग़रीब मख़्लूक़ हैं. वो ख़ुद को दरपेश चैलेंजों के बावजूद, लगातार पैदा हो रहे हैं. फ़र्ज़ कीजिये, आप एक ज़हीन नोउम्र हैं जो नोर्थ हिंदुस्तान में एक ऐसे घर में पर्वरिश पा रहा है, जो बहुत ज़ियादः मुफ़लिस नहीं और जहां वाल्दैन हैसियत भर ख़याल रख़ते हैं. बहुत ज़ियादः

इम्कान इस बात का है कि आप मुसलमान भी होंगे. आपको घर पर मौलवी 'नाज़रा क़ुर्आन' पढ़ायेगा और मुम्किन है, उर्दू लिखना-पढ़ना भी सिखा दे. लेकिन आपके मां-बाप को अपने महल्ले में तो क्या, शह्र में भी कोई ऐसा प्राइमरी या सैकण्डरी स्कूल नहीं मिलेगा जहां ज़रीअ-ए-तालीम उर्दू हो और अगर मिलेगा भी तो वो इस क़दर ख़राब होगा कि वो आपको उसमें दाख़िल नहीं कराएंगे. चुनांचे आपको किसी प्राइवेट (अंग्रेज़ी मीडियम) स्कूल या सरकारी (हिंदी मीडियम) स्कूल में दाख़िल कराया जाएगा. जब तक आप हाई स्कूल पहुंचेंगे, आप के अंदर बहुत कम उर्दू बाक़ी बची होगी. यूं भी ये वक़्त साइंस और गणित और अंग्रेज़ी पर तवज्जोह देने का है, क्योंकि आपको यूनिवर्सिटी में दाख़िला लेने की तैयारी करनी है.

लेकिन शायद आप ज़िद्दी तबीअत के मालिक हैं. आप अपने तौर पर उर्दू पढ़ने का वक़्त निकाल लेते हैं. आपको किताबें कहां मिलेंगी ? पब्लिक लाइब्रेरियों में उर्दू किताबों का ज़ख़ीरा नहीं रखा जाता. बा'ज़ सूरतों में, उत्तरी हिंदुस्तान में उन्हें मुख़्तलिफ़ तरीक़ों से ख़त्म भी कर दिया गया है. किताबों की दुकानों में अदब का बहुत क़लील हिस्सा दस्तयाब है, क्योंकि उसका बेशतर हिस्सा 1947 के बा'द दोबारा शाए' नहीं हुआ. पाकिस्तान से किताबों और रिसालों का आना और भी ज़ियादः मुहाल है. कराची के मुक़ाबले ब्रोकलन से कोई किताब मंगवाना कहीं ज़ियादः आसान है. इसका मत्लब ये हुआ कि हिंदुस्तान के बेशतर अदीब अखंड भारत के शाइरों और नॉवेलनिगारों की कई नस्लों से कमोबेश लाइल्म रहते हैं और उनमें से बहुत कम को पाकिस्तान से शाए' होने वाली उर्दू किताबों तक रसाई हासिल होती है.

लेकिन आइये, अब आपकी उर्दू में लिखने की ख़्वाहिश की तरफ़ रुख़ करें. आपने किसी न किसी तरह लिसानी महारत पैदा कर ली,अपने अदब की रवायत का ख़ासा मुतालआ भी कर लिया और तख़्लीक़ी कैफ़ीयत भी हासिल कर ली. फ़र्ज़ कीजिये कि आपने अफ़्साने लिखने शुरू किये. आप उन्हें दर्जन भर से ज़ियादः अदबी रिसालों को भिजवा सकते हैं, लेकिन उनमें से आधे से ज़ियादः बाक़ाइदगी से शाए' नहीं होते और उनमें से कोई भी एक हज़ार से ज़ियादः ता'दाद में शाए' नहीं होता, सिवाय सूचना मंत्रालय के रिसाले के. यही वो वाहिद रिसाला भी है जो अपने लिखने वालों को बराए नाम मुआवज़ा देता है. ज़ाहिर है उसमें वही चीज़ें छपती हैं जिन्हें 'महफ़ूज़' ख़याल किया जाता है.

ख़ैर, आप अपनी धुन में लगे रहते हैं और चंद बरसों में कोई दर्जन भर अफ़्साने लिख लेते हैं जिनका मज्मूआ बन सकता है. अब आपको नाशिर की तलाश होती है. ये आसान है बशर्ते कि आप मुआवज़े का मुतालबा न करें, बल्कि किसी सरकारी एकेडमी से किताब छापने के लिये जुज़्वी माली इमदाद का भी बंदोबस्त कर सकें. अगर आप जाहिल सरकारी अफ़सरों और उनके मूढ़ सलाहकारों से अच्छे ता'ल्लुक़ात

नहीं रखते तो फिर आप के पास अपने ख़र्च से किताब छपवाने के सिवा कोई चारा नहीं. किसी किताब का पहला एडिशन औसतन चार सौ से एक हज़ार तक की ता'दाद में शाए' होता है.

मुबारक हो, आपकी किताब छप गयी! लेकिन क्या ये बिकेगी भी? अगर किताब ख़ुशक़िस्मत निकली तो उसका पहला एडिशन दो से चार साल तक के अर्से में बिक जायेगा. और बस, यहां आपकी किताब की कहानी ख़त्म हो जायेगी, सिवाय इसके कि पाकिस्तान में कोई उसे बिला इजाज़त छाप ले. दरहक़ीक़त, आपकी ये पोशीदा आर्ज़ू होगी कि कोई छाप ले. अगर ऐसा न हुआ तो आपकी किताब वहां के पढ़ने वालों तक कैसे पहुंचेगी?

बिला शुब्हः, जिस वक़्त ये सब कुछ हो रहा है, आप साथ ही साथ मुलाज़मत हासिल करने और बरक़रा रखने और अपने ख़ानदान को पालने में भी मसरूफ़ हैं. तब एक दिन आपकी बेटी स्कूल से लौट कर आंसू भरी आंखों के साथ आपको अपनी हिंदी या तारीख़ की किताब दिखाती है जिसमें लिखा है कि मुसलमान हिंदुस्तान में बाहर से आये थे और उन्होंने मंदिर ढहाये और हिंदुओं पर ज़ुल्मो-सितम किये और कोई अच्छा काम नहीं किया और ये कि : "इन्हें हिंदुस्तानी ज़िंदगी के बड़े धारे में वापस लाना ज़ुरूरी है." या आपका बेटा आपको बताता है कि स्कूल में कुछ लड़के उसे 'बाबर की औलाद' कह कर पुकारते हैं. आप अपने बच्चों से क्या कहेंगे? या शायद आप ख़ुद भी इस तज्रिबे से गुज़र चुके हैं जब आप नुक्कड़ की दुकान तक गये थे और वहां दीवार पर भद्दे हर्फ़ों में ये ना'रा लिखा हुआ देखा था : 'बाबर की संतान/जाओ क़ब्रस्तान या पाकिस्तान'. क्या आपको ये बात परलुत्फ़ महसूस होगी कि आपकी तरफ़ इशारा करने वाला ये ना'रा अगरचे हिंदी में लिखा गया है, लेकिन इसमें उर्दू के अंदाज़ का क़ाफ़िया इस्ते'माल किया गया है? शायद नहीं. हाशिमपुरा, मल्याना, भागलपुर, मेरठ, भिवंडी, बड़ौदा, अहमदाबाद, हैदराबाद, बंबई, सूरत, भोपाल और दूसरी बहुत-सी जगहों पर जो कुछ पेश आया, वो किसी भी तरह पुरलुत्फ़ नहीं था.

चुनांचे आप घर लौट आते हैं और एक अफ़्साना लिखते हैं उर्दू में. क्योंकि हिंदुस्तान में उर्दू में लिखना अब यक़ीनन एक सियासी अमल है. इससे आपको कुछ ज़ियादः ताक़त तो हासिल नहीं होगी, लेकिन इसके ज़रीए आप अपने वुजूद की हक़ीक़त पर इस्रार कर सकेंगे. प्लेग की वबाओं के इस ज़माने में इतना भी बहुत है. ❑

आपका,
चौधरी मुहम्मद नईम
(अंग्रेज़ी से तर्जुमा: अजमल कमाल, आज-42, कराची)

आबिद सुहैल की कहानियां

मुहम्मद हसन

चंद कहानियां लिख कर दवामी शुह्रत और नेकनामी हासिल करने वाले गिने-चुने अफ़्सानानिगारों में हैं आबिद सुहैल. मुद्दतों से वाक़िफ़ था, लेकिन अचानक जब 'सब से छोटा ग़म' कहानी पढ़ी, तो उन्हें पहचाना. ये ख़ामोश अफ़्सानानिगार किस क़दर गहराई से ज़िंदगी के हर मोड़ से गुज़रता रहा और फिर जब उस मोड़ पर पहुंचा जहां ज़िंदगी की मान्वीयत (अर्थवत्ता) सामने आ गयी, तो ऐसा अफ़्साना लिखा जो कई सौ अफ़्सानों पर भारी है. मुशाहदा (निरीक्षण) ऐसा और उन गोशों का जिन्हें हमारे लिखने वालों ने तो क्या, हमारे समाज ने अनदेखा कर रखा है और फिर इस मुशाहदे में दिलगुदाज़ी वो जो 'मीर' के शे'रों की याद दिलाये. मगर यूं भी होता है कि बा'ज़ अफ़्सानानिगार सिर्फ़ एक ही अफ़्साना ले कर आते हैं और उसे लिख लेने के बा'द ख़ाली हो जाते हैं कि बसीरतें (बुद्धिमत्ता) कमयाब (दुर्लभ) होती हैं और नूरे-बसीरत आम करने वाले अपने से ज़ियादः मुख़ातिब रहते हैं, दूसरों से कम! मुद्दतों बा'द आबिद सुहैल का दूसरा अफ़्साना पढ़ा जिसने गोया दामन खींचा. ज़माना वो था, जब लखनऊ में शिआ-सुन्नी फ़सादात हो रहे थे. मगर भला किसे ख़याल था कि इस क़िस्म के फ़सादात भी अफ़्साने का मौज़ू' बन सकते हैं और वो भी ऐसे दिलदोज़ अफ़्साने का मौज़ू' जो बक़ौल शख़्से : मुद्दतों तड़पाता रहे. सच पूछिये तो ये अफ़्साना जिस एहतिमाम, जिस नज़ाकते-एहसास, जिस दर्दमंदी से लिखा गया है, वो उर्दू अफ़्साने की तारीख़ में अपनी आप मिसाल है. सबसे अलग राह, सबसे जुदा रविश. ऐसा अफ़्साना जिसे पढ़ कर अफ़्साने का नहीं, इर्द-गिर्द बिखरी हुई पारःपारः ज़िंदगी का ख़याल आता है.

ऐसा भयानक और दिल दहलाने वाला मौज़ू'—और अफ़्सानानिगार है कि इसे चंद छोटे-छोटे बच्चों के ज़रीए उनके खेलकूद के मशग़ले से अदा करता है. ये दर्दमंदी पढ़ने वाले का दिल दहलाने को काफ़ी है कि जिन हक़ीक़तों से आंखें मिलाने का यारा

नहीं, वो बच्चों का खेल बन गयी हैं. और लुत्फ़ ये है कि ये सब कुछ किसी क़िस्म के शाइराना मुबालग़े (अतिशयोक्ति) के बग़ैर सीधी-सादी रोज़मर्रा की नस्र में गोया एक मा'मूली-सी याददाश्त के तौर पर बयान हुआ है. ये अदा वो है जो उर्दू अफ़्साने ने आबिद सुहैल ही से सीखी है.

बच्चों की मा'सूमाना हरकतों के ज़रीए जो बेमहाबा (बेधड़क) उनके खेलकूद में ज़ाहिर होती हैं, मुआसिर (समकालीन) ज़िंदगी की गहराइयों को ज़ाहिर करना उर्दू अफ़्साने में जिस तरह यहां हुआ है, उसकी नज़ीर मिलना मुश्किल है. अफ़्सानानिगार ने यूं तो पूरा अफ़्साना ही वाहिद मुतकल्लिम में लिखा है, मगर दरअस्ल अफ़्सानानिगार तो इस बेहिस समाज का महज़ एक पैकर है जिसे ख़ून-ख़राबे में कभी ये ख़याल भी नहीं आता कि इसका असर आने वाली नस्ल पर क्या और कैसा पड़ेगा ! और क्या यही वो वरासत है, नफ़रत, तशद्दुद (हिंसा) और क़त्ल व ख़ून की जिसे हम अपने बा'द आने वालों के लिये छोड़ जाएंगे.

बलाग़त (सम्प्रेषण) से मा'मूर (परिपूर्ण) इस छोटी-सी कहानी में दिल हिला कर रख देने का पूरा साज़ो-सामान है. बच्चों के मा'सूमाना खेल के पीछे वो खेल छिपे हैं, जो उनके बड़ों की नस्ल खेल रही है, जिसे उनकी पर्वरिश और निगहदाश्त का दा'वा है और जिसके सामने वो ख़ुद मिसाल भी बने हुए हैं और वो चाहें या न चाहें, जवाबदेह भी हैं.

कहानी ऐसी है कि एक लफ़्ज़ इधर-उधर नहीं किया जा सकता, वर्ना उसकी मा'सूमियत और सादगी और पुरकारी पर हर्फ़ आता है. यूं तो और भी बहुत-सी कहानियां ख़ुद आबिद सुहैल की पढ़ीं और अब तो ये हाल है कि जहां कहानी पर उनका नाम देखा, शुरू से आख़िर तक कहानी पढ़ डाली. इनकी कहानियों के दो मज्मूए 'सबसे छोटा ग़म' और 'जीने वाले' ज़ौक़ व शौक़ से पढ़ डाले. ये नहीं कहता कि बाक़ी कहानियों में दम नहीं, मगर इन दो कहानियों वाली बात मुझे कहीं और नहीं मिली. **आबिद सुहैल की कहानियों ही में नहीं, बाक़ी उर्दू कहानियों में भी नहीं :**

ये रुत्बा-ए-बलंद मिला जिसको मिल गया

इन दो कहानियों को पढ़ते हुए बार-बार ख़याल आया कि आख़िर इनकी पसन्दीदगी की वज्ह क्या है ? आख़िर आबिद सुहैल ने दूसरी कहानियां भी लिखी हैं, मगर किसी कहानी ने इस तरह दिल को छुआ नहीं. ये सहीह है कि वो कहानियां भी मेहनत से लिखी गयी हैं और उनमें भी नुद्रत के नये गोशे तलाश करने की कोशिश की गयी है, मगर आख़िर इन कहानियों में ही कौन-सी कुव्वत है जो मुतवज्जेह करती है. पता ये चला कि इन दोनों कहानियों तक़्लीद (पैरवी) की आम रविश (धारा) से हट कर अपने गिर्दो-पेश (आसपास) के हालात से ताना-बाना बुना गया है. ये बात जिस आसानी से कह दी गयी, अमलन उसी क़दर दुश्वार है. किसी ने आर्वेल स्टीवेंसन

से लिखने की तद्बीर पूछी थी. उसके जवाब में सिर्फ़ ये कहा था कि अपने दिल के अंदर देखो और लिखो. हमारे अफ़्सानानिगारों में से अक्सर अपने इर्दगिर्द को भूल कर अफ़्साना लिखते हैं और नतीजा ये होता है कि उनके हालात कुछ और हैं और अफ़्साना कुछ और कहता है.

लखनऊ सदियों की तहज़ीब का अमानतदार है. इसके रवैये भी मुन्फ़रिद (अद्वितीय) रहे हैं और इसके रद्दे-अमल भी मुख़्तलिफ़ हैं. मगर इसकी इन्फ़िरादीयत और इसकी तहज़ीबी शख़्सियत को इज़्हार मिला है, तो मुद्दतों बा'द इन दो कहानियों में मिला है और मेरे नज़दीक इनकी बेपनाह कशिश का कम से कम एक बड़ा राज़ ये भी है.

ग़रज़, आबिद सुहैल ने दो कहानियां क्या लिखीं, गोया हमारे अफ़्साने की रवायत में क़ाबिले-क़द्र इज़ाफ़ा किया है और जो इन कहानियों की रम्ज़ शनासी (मर्म) और ऐमाइयत (संकेत-सूत्र) से महरूम रह गया, वो उर्दू अफ़्साने ही की दरोबस्त (समग्रता) से महरूम रहा. ऐसे अफ़्साने रोज़-रोज़ नहीं लिखे जाते. हद ये है कि ख़ुद अफ़्सानानिगार भी कितना ही ज़ोर लगाए, ऐसे अफ़्साने रोज़-रोज़ नहीं लिख सकता और इनसे लज़्ज़तयाबी भी ऐसी ने'मत है जो आसानी से हासिल नहीं होती. इनकी दाद सिर्फ़ अस्ग़र (गौंडवी) के इस मिस्रे से दी जा सकती है :

कहा जो कुछ तो तिरा हुस्न हो गया महदूद ❑

डी-7, मॉडल टाउन, दिल्ली-9

लघुकथाः

डेपुटेशन

—नदीम अहमद 'नदीम'

दूरदराज़ के गाँव की स्कूल में पढ़ाने वाले मास्टरजी को अपनी बहन की शादी में घर जाना था. स्कूल में चपरासी से लेकर हैड मास्टर तक के दायित्व अकेले मास्टर जी ही निभा रहे थे.

मास्टर जी को लम्बी छुट्टी चाहिए थी. दूसरे दिन से स्कूल बन्द. थोड़े दिनों बाद गांव वालों की नींद खुली, शिकायत हुई. थोड़ी हलचल होने से ऊपर से जवाब तलबी हुई. नीचे के अधिकारी ने अपने अधिकारी को रिपोर्ट भेजी. लिखा था, 'अमुक अध्यापक डेपुटेशन पर है.' ❑

ज़ैनब मंज़िल, चौखूंटी, बीकानेर (राज.)

सबसे छोटा ग़म

आबिद सुहैल

आबिद सुहैल पुराने लिखने वाले हैं, लेकिन उर्दू अफ़्साने की तारीख़ में उनका तज़्किरा कम-कम-सा हुआ. इसका एक सबब उनका सूफ़ियाना अंदाज़ भी है. एक अदबी रिसाले के मुदीर और नाशिर होते हुए भी इन्होंने ख़ुद को प्रोजेक्ट करने की कोशिश नहीं की.

उर्दू-फ़िक्शन की तन्क़ीद पर भी इन्हें दस्तरस हासिल है, जिसका सुबूत उनकी किताब 'फ़िक्शन की तन्क़ीदः चंद मुबाहस' है. 'सबसे छोटा ग़म' और 'जीने वाले' उनके चुनिन्दा अफ़्सानों के मज्मूए हैं.

उर्दू के नामवर नक़्क़ाद प्रो. मुहम्मद हसन की बेशक़ीमत राय के साथ जनाबे आबिद सुहैल के दो अफ़्साने—

उसने तीनों तरफ़ की जालियों में बंधे हुए हज़ारों बल्कि लाखों धागों को देखा और उनमें से दस सवा दस साल पहले अपने बांधे हुए धागे को तलाश करने लगी.

बाईं तरफ़ वाली जाली पर जिसके बाहर गेंदे के पीले-पीले फूल और हार के ढेर थे, और बहुत-से दिये जल रहे थे,उसने अपने धागे को पहचानने की कोशिश की. उसे ख़ूब अच्छी तरह याद था कि इस तरफ़ जाली के बिल्कुल कोने में उसने धागे में एक गिरह लगायी थी और फिर दूसरी गिरह जावेद ने. उसे ये भी याद था कि अभी उसकी उंगलियां पूरी तरह गिरह लगा भी न पायी थीं कि जावेद की उंगलियां वहां पहुंच गयी थीं और उंगलियों के उस लम्स (स्पर्श) के बा'द जावेद उसकी आंखों में झांक कर मुस्कराने लगा था और वो शरमा कर नीचे देखने लगी थी.

लेकिन उनका बांधा हुआ धागा कौन-सा था ? इसी लम्हे उसे ख़याल आया कि उस वक़्त इस जगह शायद बहुत ज़ियादः भीड़ थी और जावेद ने आंखों ही आंखों में इशारा किया था और वो सामने वाली जाली पर चली गयी थी. ये सोच कर उसने दरमियान वाली जाली का रुख़ किया, लेकिन क़दम आगे बढ़ाने से पहले उसने एक बार फिर उस जाली पर नज़र डाली, जैसे वो अपना बांधा हुआ धागा पहचान ही तो लेगी.

दूसरी जाली पर पहुंचते-पहुंचते उसे ऐसा लगा जैसे पहली जाली पर जा कर

उसने ग़लती की थी और उसे उसकी याददाश्त ने धोका दिया था. धागा तो उसने यहीं बांधा था, बिल्कुल कोने में; लेकिन यहां भी लाखों धागे बंधे थे, किसी में एक गिरह थी, किसी में दो. इनमें से उसका अपना कौन-सा था ? उसने कोने के धागों पर हाथ फेरा आहिस्ता-आहिस्ता, जैसे जावेद के हाथों के लम्स से वो अपने धागे को पहचान ही तो लेगी, लेकिन कहीं ख़्वाहिशों की गर्मी थी, कहीं आर्ज़ुओं की नर्मी और कहीं मायूसियों की तारीकी और मुसीबतों की सख़्ती !

उसने दूसरी बार इसी कोने के धागों पर हाथ फेरने का इरादा किया ही था कि एक दुबली-पतली, गोरी-चिट्टी लम्बी-सी औरत वहां आ गयी. वो कुछ देर तो ख़ामोश खड़ी जाली को एकटक देखती रही, फिर उसने दाएं तरफ़ की जाली में लाल धागा बांधा, मुड़ कर अक़ीदत से मज़ार की तरफ़ देखा और आंसू पोंछती हुई बाहर निकल गयी.

वो औरत ज्यों ही बाहर निकली, उसने उसके बांधे हुए धागे पर उंगली रख दी. अक्टूबर की इन इब्तिदाई तारीख़ों में जब धूप-छांव के मौसम के बावजूद मज़ार के बाहर लम्बे-चौड़े आंगन का एक-एक पत्थर तप रहा था, एक सर्द लहर उसके रगो-पे में समा गयी. धागा सिमटा, फिर फैला और दो आंखें बन गया, रहम की भीक मांगती हुई आंखें, दो लब बन गया, ख़्वाहिशों को गोयाई (वाणी) अता करते हुए लब—"ए शैख़ ! तू ने बादशाहों की झोलियां मुरादों से भर दी हैं, मेरी झोली में भी एक गुलाब डाल दे."

वो इसी जगह खड़े-खड़े कांप गयी, जैसे नींद से अचानक कोई किसी को जगा दे या कोई बेहद भयानक ख़्वाब से जाग पड़े. उसने अपने दोनों तरफ़ मसहरी पर सोते हुए दोनों बच्चों को टटोलने के लिये हाथ बढ़ाये, लेकिन उसका बायां हाथ मेहराब से और दायां निहायत ख़ूबसूरत कपड़ों में मल्बूस एक औरत से टकरा गया—कमर में सोने की करधनी, कानों में सोने के बूंदे जिनमें हीरे चमक रहे थे, गोया ख़्वाब से जागने के बा'द हक़ीक़त से उसका पहला टकराव था. खिलता हुआ गंदुमी, बल्कि शायद गोरा रंग जिसको ख़ुशहाली, ख़ुशियोंभरी ज़िंदगी ने और भी हसीन बना दिया था, बल्कि चमका दिया था.

इस औरत को भी भला कोई ग़म हो सकता है ? उसने बालाई की रंगत वाले मुलायम और गुदाज़ हाथों को देखा. नज़रें झुका कर दोनों छोटे-छोटे पैरों को देखा, ऐसे छोटे-छोटे ख़ूबसूरत पैर जैसे इन्हें बचपन में लोहे के जूते पहना कर रखा गया हो. फिर सर उठा कर कनखियों से उन बड़ी-बड़ी आंखों की तरफ़ देखा जो थोड़ी देर पहले उसको ऐसी लगी थीं जैसे किसी ने गुलाब के कटोरे भर दिये हों.

लेकिन अब ये गुलाब के कटोरे छलकने ही को थे और आंसुओं के दो क़तरे दोनों कटोरों के कोनों से टपक पड़ने के लिये पर तौल रहे थे.

इस औरत को भला क्या ग़म हो सकता है ? उसने सोचा. ग़रीबी और मुफ़लिसी तो इसने देखी ही नहीं, औलादें यक़ीनन हैं वर्ना इस क़दर ख़ुश भला रह सकती थी,

मांग का सिंदूर और चूड़ियां और बूंदे. छीःछीः कैसा बुरा ख़याल आया था, उसके दिल में. ख़ुदा इसे सदा सुहागन रखे और इसके पति की उम्र दराज़ करे. लेकिन कोई ज़ख़्म तो ज़ुरूर था, जिसे न दौलत, न शौहर, न आल, न औलाद, न ख़ूबसूरत कपड़े, न क़ीमती ज़ेवर, ग़रज़ कोई न भर पाया था और वो यहां चली आयी थी.

उसने साड़ी जिस तरह बांध रखी थी, उसी तरह साड़ी बांधना जावेद को भी पसंद था, लेकिन वो उस तरह साड़ी बांध ही न पाती थी. उसे इस बात से एक और बात याद आ गयी और उसकी उदास और ग़मगीन आंखों में भी हंसी की एक चमक पैदा हो गयी.

जावेद ने जब ताजमहल में एक ख़ूबसूरत लड़की को बार-बार पलट कर देखा था, तो वो उदास हो गयी थी. शादी को अभी चंद ही दिन तो हुए थे और ख़ल्वतों (एकांतों) में प्यार व मुहब्बत लुटाने वाला जावेद जल्वत (सबके सामने) में और वो भी उसकी मौजूदगी में इस तरह हरजाई हुआ जा रहा था. वैसे उसने ख़ुद को समझाया भी था कि हर पुरकशिश और ख़ूबसूरत चीज़ की तरफ़ नज़रें ख़ुद-ब-ख़ुद उठ जाती हैं, लेकिन बार-बार मुड़ कर देखना बिला इरादा तो नहीं हो सकता. इसने कई बार पलट-पलट कर उसकी तरफ़ देखा था और ताजमहल की पुश्त पर, जमुना के किनारे जब वो औरत मस्जिद की तरफ़ खड़ी थी; तो दर्या के उस पार क़िले की तरफ़ देखते हुए भी उसने नज़रें चुरा कर उस औरत की तरफ़ देख लिया था.

लेकिन जावेद की गुफ़्तगू के अंदाज़, बर्ताव, मुस्कराहट, हंसी और थोड़ी-थोड़ी देर बा'द ताज के हुस्न के किसी पहलू की तरफ़ उसकी तवज्जोह दिलाते हुए उसके हाथ को धीरे-से छू देने की उसकी आदत में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा था. फिर ये बात तो उसे एक दिन ख़ुद-ब-ख़ुद समझ में आ गयी थी कि उस दिन जावेद उस औरत को नहीं, बल्कि उस साड़ी को देख रहा था जो वो औरत एक ख़ास तरीक़े से बांधे हुए थी.

कहीं इस औरत को ऐसा ही कोई वहम, कोई बेनाम ग़म तो नहीं ? बेनाम ग़मों के तो हम औरतों के पास ख़ज़ाने होते हैं जिन्हें हम लुटाते नहीं, बटोर-बटोर कर रखते हैं. ख़ुशियों के लम्हों को बोझल बनाने के लिये बेमहाबा बेसाख़्ता क़हक़हों को शाइस्ता (शिष्ट) बनाने के लिये इंतिहाओं को ज़िंदगी के आदाब सिखाने के लिये. लेकिन ऐसे बेनाम ग़मों के लिये कोई इतनी दूर तो नहीं चला आता.

वो औरत जाली पर धागा बांधने लगी, तो उसने कनखियों से उसके चेहरे का एक बार फिर जाइज़ा लिया. उदासी का एक पर्दा तो ज़ुरूर था, आंखें अब भी भीगी हुई थीं, लेकिन चेहरे का मेकअप इसी तरह क़ाइम था जैसे ब्यूटी सैलून से निकल कर सीधे यहीं चली आयी हो. गर्दो-गुबार का एक भी निशान न था. साड़ी पर एक भी शिकन न थी. इस औरत ने धागे में गिरह लगायी तो उसकी नज़रें कुद्रती रंग में रंगे हुए उसके लंबे-लंबे नाख़ूनों पर पड़ीं जिनका ये हुस्न, ये चमक, देखरेख और घरदारी के कामों से बेनियाज़ी के बग़ैर मुम्किन न थी.

धागे में गिरह लगाने के बा'द उसने ज़रा-सा झुक कर दोनों हाथ बांध कर जैसे जाली ही को प्रणाम किया, फिर मुड़ी और मज़ार के क़रीब जा कर खड़े ही खड़े तक़रीबन दोहरी हो गयी और ऐसे फूट-फूट कर रोयी कि सारे बंध टूट गये बल्कि बह गये, लेकिन इन आंसुओं ने उसे और भी ख़ूबसूरत, और भी मा'सूम बना दिया था. जब वो बाहर निकली तो वो भी तजस्सुस (जिज्ञासा) के मारे मज़ार के सिरहाने तक आ गयी. उसने पर्स खोला, दो बड़े-बड़े नोट निकाले, फिर और नोट निकाले और दरगाह के चंदे के बक्स में डाल दिये और इलायचीदाने लेने के लिये दोनों हाथ फैला दिये. फिर धीरे-धीरे सर उठाया, इलायचीदाने साड़ी के पल्लू में डाल कर पर्स में एहतियात से रख लिये और चली गयी. चंद क़दम बा'द उसने पलट कर मज़ार की तरफ़ एक बार फिर देखा और सर झुकाये बलंद दरवाज़े की सीढ़ियों से नीचे उतर गयी.

अब वो उसी जाली के पास आ गयी जहाँ थोड़ी देर पहले उस औरत ने धागा बांधा था, लेकिन रंग-बिरंगे धागों के जंगल में वो उसका धागा पहचान न सकी, उसके ग़म के राज़ तक न पहुंच सकी.

इसी दरमियान सय्याहों का एक रेला दरगाह में दाख़िल हुआ तो गाइड ने रटे रटाये जुम्ले दोहराये. शैख़ सलीम चिश्ती की दुआ से अक्बर को जहांगीर नसीब हुआ. यहां लोग आते हैं और दामने-मुराद भर ले जाते हैं.

मज़ार के बाहर की जाली पर एक सय्याह ने हाथ रखा तो गाइड ने निहायत आहिस्तगी से वो हाथ हटा दिया और कहा, "इस मज़ार की जाली दुन्या के सारे मज़ारों की जालियों से ख़ूबसूरत है, कछुए की हड्डी पर सीप के काम की ये दुन्या में अपनी मिसाल आप है." ये कह कर उसने दियासलाई जलायी तो मजार की बैरूनी दीवार का वो हिस्सा जिस पर रौशनी पड़ रही थी, चमक उठा, झिलमिल करने लगा.

सय्याहों का रेला चला गया, तो वो फिर तक़रीबन तनहा रह गयी. एक बार फिर उसने मज़ार के क़दमों के सामने की जाली पर बंधे हुए धागों पर हाथ फेरा, तो जावेद दरवाज़ा खोलकर कमरे के अंदर दाख़िल हो गया. नशे में धुत, टाई की गिरह ढीली, बाल बिखरे हुए, सूट शिकनआलूद, आंखें सुर्ख़ और दहाड़ता हुआ "मैं कहता हूं ये मेरा घर है या किसी और का ? दो, दो घंटे चिल्लाओ तब कहीं जाकर दरवाज़ा खुलता है.....न आया करूं, कहीं और सो रहा करूं ?"

"ज़रा आंख लग गयी थी, थोड़ी देर पहले तो जाग रही थी." उसने धीमे लहजे में कहा और टाई की गिरह खोलने लगी.

"हूंऊं जाग रही थीं, थोड़ी देर पहले तक, तो फिर मर क्यों गयी थीं मेरे आने पर ?"

लेकिन उसने कोई जवाब न दिया और कोट नर्म-नर्म हाथों से उतार दिया और हाथ का सहारा दे कर उसे बिस्तर पर लिटा दिया. फिर जूतों की डोरी खोली, जूते उतारे, मौज़े उतारे और बिस्तर पर उसकी टांगें फैला दीं.

अब ये बात हर रात का मा'मूल बन गयी थी. वैसे उसे दिन में सब कुछ हासिल होता. इज़्ज़त, दौलत, कार, मुलाज़िम, औलादें, लेकिन ये सब कुछ एक बारीक धागे से लटका हुआ मा'लूम होता था. ये धागा किसी वक़्त भी टूट सकता था. अगर उसके ख़द्शात सहीह् साबित हुए तो वो क्या करेगी, ता'लीमयाफ़्ता होने के बावजूद दस बारह बरस तक इस तरह की ज़िंदगी गुज़ारने के बा'द क्या वो नये सिरे से बिल्कुल दूसरी तरह की ज़िंदगी शुरू कर सकेगी ?

सवालिया निशान फैला और फैलता ही गया कि एक बूढ़ी-सी औरत ने दूसरी औरत की गोद से एक बिल्कुल छोटा-सा बच्चा ले कर मज़ार के क़दमों में डाल दिया. दोनों औरतों ने जिन के चेहरे ख़ुशी से तमतमा रहे थे, उसी जगह बैठ कर सर को इतना झुकाया, इतना झुकाया कि सज्दे का गुमान होने लगा. बूढ़ी औरत उठी और उसने जाली के पास जा कर एक धागे की गिरह खोल दी, बच्चे को गोद में उठा लिया,दोनों ने एक बार फिर अक़ीदत से मज़ार की तरफ़ गरदनें झुकायीं और मज़ार से बाहर निकल गयीं.

उसी लम्हे उसकी नज़र मां की गोद में मुस्कराते हुए बच्चे पर पड़ी. वो ख़ुद भी मुस्करा दी. लेकिन उसकी ये मुस्कराहट आरज़ी थी. सारी जालियों पर महरूमियों, तमन्नाओं, नाकामियों के आंसुओं में डूबे हुए लाखों-लाख धागों के दरमियान एक फूल कब तक अपनी शादाबी (ताज़गी) बरक़रार रख सकता था, उसने दाएं हाथ की मुट्ठी खोली तो सुर्ख़ धागा पसीने में भीग चुका था, अब वो जाली के किसी ऐसे कोने को तलाश करने लगी, जहां इससे पहले किसी ने धागा न बांधा हो, लेकिन ऐसी कोई जगह न थी. हर जगह एक दो नहीं, दर्जनों धागे बंधे हुए अपनी आर्ज़ुओं की तक्मील के लिये आंसू बहा रहे थे. आंसुओं के इस सैलाब में उसके एक क़तरे की भला क्या अहमियत ! गहरे ज़ख़्म, ग़मों के पहाड़ और मुसीबतों के तूफ़ानख़ेज़ धारे जिनके ये धागे अलामत थे, उसे अपने ग़म के मुक़ाबले में बेहद बड़े और अज़ीम मा'लूम हुए.

उसने एक बड़ा धागा लिया और जाली के चारों कोनों पर बांध दिया, पूरी जाली को घेर कर, सारे ग़मों, दुःखों और तमन्नाओं को घेरे हुए. अब वो रो पड़ी. उसकी आंखें समंदर बन गयीं. उसने आंसू पोंछने की कोशिश की और रुंधे हुए गले से बोली, "शैख़, इन सब की मुरादें बर आएं तो मेरा ग़म भी हल्का हो जायेगा. इतने बहुत से दुःखों के बीच में कैसे ख़ुश रह सकूंगी ?"

बाहर सेहन के पत्थर अब भी इतने ही गर्म थे, सूरज अब भी आग बरसा रहा था, लेकिन उनका एहसास किये बग़ैर, ख़ामोश गरदन झुकाये वो इस तरह बाहर निकल आयी जैसे उसके दिल का सारा बोझ हल्का हो गया हो. ❑

22, एस. पी. कॉलोनी, अलीगंज, लखनऊ

सवा नेज़े पर सूरज

आबिद सुहैल

मेरी बड़ी बेटी सामने खड़ी मुस्करा रही थी.

मैंने पूछा, "खेल चुकीं ?"

"क्या खेलें ?" उसने हवा में दोनों हाथ उठा कर झुला दिये.

"कैरम क्यों नहीं खेलतीं ?"

"आप थोड़ी देर बा'द कहेंगे तुम लोग शोर करते हो ?—और फिर शिगूफ़ा खेलने भी तो नहीं देती.....थोड़ी-थोड़ी देर बा'द सब गोटें गड़बड़ कर देती है. ख़ुद तो खेलना आता नहीं, हमें भी नहीं खेलने देती."

"बच्ची है", मैंने कहा, "अपनी छोटी बहन का ख़याल तो करना ही चाहिये." मैंने अपने हिसाब से सारा झगड़ा चुका दिया.

"तो हम कौन-से बूढ़े हो गये हैं, हम भी तो बच्चे हैं !" फ़ौज़िया ने सादगी और भोलेपन से कहा. मैंने मुस्करा कर उसकी तरफ़ देखा. वाक़िई अभी वो बच्ची ही तो थी. उससे ये उम्मीद करना कि छोटे भाई, बहनों के झगड़े चुकाये, छोटी बहन कैरम की गोटों को खेल के दरमियान बार-बार बिगाड़ दे, तो गुस्सा होने के बजाय उन्हें फिर अपनी जगह रख कर सजाये और मनाये, उसके साथ ज़रा ज़ियादती ही थी, इसलिये मैंने कहा, "तो तुम लूडो क्यों नहीं खेलतीं ?"

"सुब्ह तो खेला था."

"तो और खेलो."

"और क्या खेलें ?" वो मिनमिनायी, "सुब्ह जब सैफ़ हारने लगे तो ख़फ़ा हो कर अलग बैठ गये. बोले, आप हमेशा हरा देती हैं, ज़रूर बेईमानी करती हैं."

"तो ऐसा करो", मैंने एक तर्कीब निकाली, "ख़ुद तो दो गोटों से खेलो और उसको चार गोटों से खेलने दो."

"उससे क्या होगा ?" फ़ौज़िया ने पूछा.

"होगा ये कि तुम अच्छा खेलती हो तो जीतोगी ही. इस तरह मुम्किन है, सैफ़ भी कभी जीत जाएं और उनकी भी ख़ुशी हो जाए."

"इसमें अच्छा खेलने की कौन-सी बात है !" उसने कहा, "ये तो क़िस्मत की बात है. पांसा में जो भी नंबर आ जाए. बड़े छोटे से इसका क्या ता'ल्लुक़ ?"

"फिर भी."

"फिर भी क्या अब्बू ?.....वो पांसा डालें तो उनकी गोट भी आगे बढ़ाओ, इसका भी ख़याल रखो कि उनकी गोट न पिटने पाये, इस पर भी हार जाएं तो मुंह फुला कर बैठ जाते हैं."

सच पूछिये तो फ़ौज़िया की दलील में वज़्न था और मैं सोच ही रहा था कि क्या जवाब दूं कि इतने में सैफ़ मियां दूसरे कमरे से आ गये. उनकी आंखों में आंसू थे जो मुझे देखते ही बह निकले.

"अब्बू देखिये, गुड़िया हमारे साथ खेलती नहीं." ये कह कर सैफ़ जो हमेशा फ़ौज़िया को गुड़िया कहते थे, भौं-भौं रोने लगे.

फ़ौज़िया ने जब दलील को आंसुओं से हारते देखा तो वो भी रोने लगी.

थोड़ी देर बा'द तीनों भाई बहन फिर एक जगह मिल-जुल कर खेलने लगे. खिड़की से झांक कर मैंने देखा तो आंगन की दूसरी तरफ़ बावर्चीख़ाने के पास दालान में उन खिलौनों की, जो इम्तिहानात ख़त्म होने के बा'द दोबारा बच्चों के क़ब्ज़े में आ गये थे, बरात सजी थीं. छोटी-छोटी ईंटों का चूल्हा बनाया गया था जिस पर एक छोटी-सी पतीली में खाना पक रहा था. सामने गुड्डे-गुड़ियों का सोफ़ा सेट सजा था. बीच में एक छोटी-सी मेज़ थी. सोफ़ों पर आमने-सामने गुड्डे-गुड़िया बैठे थे. उनके सामने मेज़ पर टीन की फूलदार रंगीन प्लेटें रखी थीं, जिनमें बिस्किट और ककड़ी के छोटे-छोटे टुकड़े रखे थे. टीन की रंगीन केतली और चीनी की छोटी-छोटी प्यालियां, तश्तरियां क़रीने से मेज़ पर सजी थीं. फ़ौज़िया नें पतीली पर से तश्तरी उठा कर चमचे से एक आलू निकाला और उसे अंगूठे और शहादत की उंगली से दबा कर देखा और बोली, "अभी थोड़ी कसर है." तो शिगूफ़ा ने गुड्डे-गुड़िया की तरफ़ देख कर कहा, "अभी खाने में थोड़ी देर है, आप लोग जब तक नाश्ता कीजिये."

मैं अपनी हंसी बमुश्किल ज़ब्त कर सका. वो अपने खेल में इस तरह खोये हुए थे कि उन्हें इस बात का अंदाज़ा भी न हो सका कि मैं उन्हें देख रहा हूं, वर्ना फ़ौज़िया वहीं से कहती, "अब्बू अल्लाह, आप अंदर जाइये. देखिये हम तो आपका खेल नहीं देखते हैं."

मैं मुत्मईन होकर कमरे में चला आया. बीवी किसी अज़ीज़ा के यहां गयी हुई थीं, जो यकायक शदीद बीमार हो गयी थीं. उस घर में दो बच्चों को ख़सरा निकला

था. इसलिये तीनों बच्चों को घर पर ही छोड़ गयी थीं. उन अज़ीज़ा का घर काफ़ी फ़ासिले पर था. आने-जाने में तीन-चार घंटे तो लगेंगे ही.....मेरे लिये तीनों बच्चों की देखभाल का ये पहला तज्रिबा था, इसलिये शुरू में तो कुछ घबराया था; कुछ उलझा भी था लेकिन अब ऐसा लग रहा था कि मेरी परेशानी बिला सबब थी. वैसे भी बीवी को गये हुए तक़रीबन तीन घंटे हो गये थे और अब वो वापस आती ही होंगी.

ये सोच कर मैंने पलंग पर दराज़ होकर अख़बार पढ़ना शुरू कर दिया. अभी मैं बमुश्किल दो, तीन ख़बरें ही पढ़ सका था कि सैफ़ मियां रोते हुए आये.

"अब्बू, गुड़िया आपा बड़ी ख़राब हैं. अपनी गुड़िया को दो दो प्यालियां चाय पिलाती हैं और मैंने कहा, मेरे गुड्डे को भी एक प्याली और बना दें तो बोलीं, जानते हो शकर कितनी महंगी है. आप तो कल कह रहे थे कि शकर सस्ती हो गयी है."

मैं हंसी बड़ी मुश्किल से रोक सका. फिर मैंने फ़ौज़िया को आवाज़ दी.

"फ़ौज़िया."

"जी अब्बू."

"सुनो."

"आई." कहती हुई वो आ बिराजी.

"क्यों जी ! तुम सैफ़ के गुड्डे के लिये चाय की दूसरी प्याली क्यों नहीं बना देतीं ?"

"अब्बू, आप जानते नहीं. ये बड़े हज़रत हैं, पहले बोले हमारा गुड्डा ककड़ी और बिस्किट ज़ियादा खायेगा, इसे भूक लगी है, तुम अपनी गुड़िया को दो प्याली चाय पिला देना. मैंने बिस्किट और ककड़ी का छोटा-सा एक टुकड़ा अपनी गुड़िया को दिया और बाक़ी सब इनके गुड्डे को दे दिया. अब चाय भी दूसरी प्याली मांग रहे हैं."

"लेकिन गुड्डे-गुड़िया तो कुछ खाते नहीं. वो बिस्किट और ककड़ी क्या हुए ?"

"हुए क्या ? ख़ुद खा गये." फ़ौज़िया बोली.

"और तुमने नहीं दो दो प्याली चाय पी ली—और बिस्किट, ककड़ी भी तो खाया था तुमने." सैफ़ रोने लगा.

उसी लम्हे शिगूफ़ा एक हाथ में खिलौने वाली तश्तरी, प्याली और दूसरे में बिस्किट और ककड़ी के दो छोटे-छोटे टुकड़े लिये कमरे में दाख़िल हुई. वो इस तरह संभल-संभल कर चल रही थी कि अगर ज़रा भी तेज़ी से चली तो चाय की प्याली छलक जायेगी.

"अब्बू ये आपका हिस्सा है." उसने धीरे से कहा और निहायत आहिस्तगी से प्याली और तश्तरी तख़्त पर रख कर छोटे से टीन के चमचे से प्याली में, जो बिल्कुल ख़ाली थी, शकर चलाने लगी.

"भई, इसमें तो चाय है ही नहीं." मैंने कहा.

"झूठमूठ." कह कर उसने प्याली मेरे मुंह से लगा दी.

"बड़े मज़े की है." मैंने कहा तो फ़ौज़िया भी मुस्करा दी. लेकिन मुझे अपनी तरफ़ देख कर उसने मुंह दूसरी तरफ़ कर लिया. सैफ़मियां अब भी रुआंसे थे.

अस्ल में ये लोग सुब्ह से खेलते-खेलते थक चुके थे. आख़िर खेलने की भी एक हद होती है. स्कूलों में गर्मियों की छुट्टियां शुरू हुए पंद्रह-बीस दिन हो चुके थे. पहले छह-सात दिन तो इन लोगों ने छुट्टियों के ख़ूब मज़े लिये. रंग-बिरंगी तस्वीरों की हिंदी, उर्दू और अंग्रेज़ी की जो बहुत-सी किताबें मैंने उन दोनों के लिये इकट्ठा की थीं, दो, दो नहीं, चार, चार बार पढ़ डाला. फिर कई दिन लड़े-झगड़े बग़ैर खेलते रहे. अब कई दिन से वो हिसाब लगा रहे थे कि स्कूल खुलने में कितने दिन बाक़ी हैं और हर खेल का ख़ात्मा भी लड़ाई पर होने लगा था.

एकदम मुझे ख़याल आया कि पास वाले मकान की बच्ची नाज़ो कई दिन से नज़र नहीं आयी और ये लोग भी उसके यहां नहीं गये.

"अब तुम लोग नाज़ो के साथ नहीं ख़ेलते ?"

"जब से झगड़ा हुआ है, उसकी दादी उसे आने ही नहीं देतीं हमारे यहां." फ़ौज़िया ने कहा.

"तो तुम लोग चले जाया करो."

"अम्मी ने मना कर दिया है."

ख़ाली चर्ख़ी हाथ में थी और पतंग आस्मान पर.....मेरी समझ में कुछ न आया तो मैंने कहा, "अच्छा अब तुम लोग सो जाओ."

"अम्मी कब आएंगी ?" शिगूफ़ा ने पूछा.

"अब आती ही होंगी." मैंने तसल्ली दी.

"जब आएंगी तब सो जाएंगे, मज़े से."

"नहीं....." मैंने 'नहीं' की 'ई' को ज़रा खींच कर बनावटी गुस्से से कहा, "बस अब लेट जाओ. लू चलने लगी है—अब दालान में कोई नहीं खेलेगा."

मेरे बदले हुए तेवर देख कर तीनों कमरे में लेट गये. फ़ौज़िया और सैफ़ तख़्त पर और शिगूफ़ा मेरे पास मसहरी पर.

"आंखें बंद !" मैंने कहा, तो तीनों बच्चों ने आंखें बंद कर लीं और मैं फिर अख़बार पढ़ने लगा.

थोड़ी देर बा'द खुसर-पुसर की आवाज़ सुन कर मैंने अख़बार आंखों के सामने से हटाया तो फ़ौज़िया और सैफ़ शरारतभरी नज़रों से मेरी तरफ़ देख रहे थे.

"सो जाओ....." मैंने ज़रा सख़्ती से कहा.

दोनों ने ख़ूब कस कर आंखें बंद कर लीं. मगर शरीर मुस्कराहट अब भी उनके चेहरों पर खेल रही थी. मैं फिर अख़बार पढ़ने लगा. और न जाने कब मेरी आंख लग गयी.

थोड़ी देर बा'द मेरी आंख खुली तो तख़्त ख़ाली था, मसहरी पर शिगूफ़ा भी न थी. मैं कुछ देर तक ख़ामोश बिस्तर पर लेटा रहा, शायद इस इंतिज़ार में कि किसी की आवाज़ सुनाई दे तो बुलाऊं; लेकिन न किसी की आवाज़ सुनाई दी, न ये अंदाज़ा ही हुआ कि कहां हैं!

मैं निहायत ख़ामोशी से बिस्तर से उठा. सामने वाला दालान ख़ाली था. खिलौने, सोफ़ा सेट सब उसी तरह सजे थे. अब मुझे ज़रा फ़िक्र हुई लेकिन सद्र दरवाज़ा अंदर से बंद देख कर मेरी फ़िक्र कम हुई. दूसरे कमरे का दरवाज़ा बंद था. मैंने दराज़ से झांका, तीनों बच्चे कमरे में मौजूद थे.

शिगूफ़ा फ़र्श पर दराज़ थी. उसका कुर्ता ऊपर तक उठा हुआ था और पेट पर पट्टी बंधी थी जिससे ख़ून की छींटें झांक रही थीं. मैं घबरा गया. लेकिन पास वाली मेज़ पर लाल रौशनाई की दवात उल्टी पड़ी और मेज़पोश उससे तर-ब-तर देख कर मेरी घबराहट तो दूर हो गयी फिर भी मुआमला क्या है, ये मेरी समझ में न आया. शिगूफ़ा के पास ही तरकारी काटने वाली छुरी एक फटे-से कपड़े पर रखी हुई थी. कपड़ा जगह-जगह से सुर्ख़ हो गया था. सैफ़ लकड़ी की एक खेंची जिस के एक सिरे पर कपड़ा लिपटा हुआ था, हाथ में पकड़े खड़ा था और फ़ौज़िया से कह रहा था, "मिट्टी का तेल तो स्टोव में है और स्टोव नहीं मिल रहा है."

"वहीं कहीं होगा. किचन में अलमारी के नीचे देखो."

"अच्छा", कह कर सैफ़ ने दरवाज़ा खोला तो मुझे देख कर पहले तो कुछ हैरान से हुए, फिर मुस्कराये और फ़ौरन ही कमरे में लौट गये. मैं कमरे में दाख़िल हो गया. मुझे देख कर शिगूफ़ा भी फ़र्श से उठ खड़ी हुई.

"ये क्या हो रहा है?" मैंने पूछा.

फ़ौज़िया ने मेरी तरफ़ देखा और पलक झपकाये बग़ैर बोली, "हम लोग शिआ, सुन्नी लड़ाई का खेल खेल रहे हैं!" ❑

22, एस. पी. कॉलोनी, अलीगंज, लखनऊ

चंद यादनामे

राजस्थान के एक जाने-माने कहानीकार से चंद बरस पहले कहानी/कविता की बेअसरी के बारे में गुफ़्तगू का आग़ाज़ होना था. उन दिनों उनसे ख़तो-किताबत थी. गुफ़्तगू तो ख़ैर क्या होती, ख़तो-किताबत का सिलसिला ही बंद हो गया; मगर कहानी/कविता की बेअसरी के मुआमले में मेरी फ़िक्र ज्यों की त्यों क़ाइम रही. आख़िर क्या वज्ह है कि सिर्फ़ सौ बरसों के दरमियान, ख़ास तौर से कहानी की सिन्फ़ ने अपनी जाज़्बीयत खो दी. यूं छपने में हज़ारों कहानियां आज भी छपती हैं, लेकिन वो ज़ेह्नो-दिल में घर नहीं बना पाती हैं. ज़माने की रफ़्तार से, अख़बारात की कवर-कहानियों से, खोजी रिपोर्टों से, फ़िल्मों और टी.वी. सीरियलों से अब हर नयी तख़्लीक़ पहले पढ़ी व देखी हुई-सी लगती है. ज़ाहिर है, ऐसे माहौल में कहानी की कशिश रोज़-ब-रोज़ कम होती जा रही है. कहानी, कविता व ग़ज़ल की भरमार से अदब की दीगर सिन्फ़ें पसे-पुश्त चली गयीं, वगरना रिपोर्ताज़ इंशाइये, ख़ाके, सफ़रनामे और यादनामे कहीं ज़ियादः कशिश रखते हैं. वो कहानी/कविता की तरह ख़यालीया तसव्वुराती नहीं होतीं, बल्कि उनमें ज़िंदा-जावेद किरदार अपने वक़्त की धड़कन में आबो-ताब के साथ मौजूद होते हैं और किसी क़दर तारीख़ का हिस्सा भी. यूं तो कहानी/कविता में भी अपने वक़्त की हक़ीक़त फ़न्नी तौर पर मौजूद होती है, मगर उनमें हक़ीक़त और अफ़साना गड्मड् होता है. इसके बरअक्स यादनामे ज़िंदा हक़ीक़त पर ही मुब्नी होते हैं. गोकि उनमें अफ़्सानवी रंग भी होता है. कुछ तख़्लीक़कार एक मा'मूली-सी याद को भी यादगार बना देने का हुनर जानते हैं और यही कमाल यादनामों को अदब का मख़्सूस हिस्सा बना देता है. यादनामे की एक ख़ूबी ये भी है कि लिखिये तो 'नामा' बन जाए और कहिये तो 'बात' बन जाए. देखा जाए तो दुन्या-जहान के लोगों की बातों में ख़ास उन्सुर यादों का ही होता है और हर कोई अपनी यादों को दूसरों के साथ शेअर करने का मुतमन्नी रहता है.

यादनामे के लिये हिंदी में 'संस्मरण' शब्द इस्तेमाल होता है. मगर जो बात यादनामे में है, वो संस्मरण में नहीं, क्योंकि इसका निस्फ़ हिस्सा 'मरण' खटकता है. याद के बयान में जो ज़िंदगी-आमेज़ ताज़गी होती है, वो संस्मरण में शायद नहीं है. ये ख़ूबसूरत लफ़्ज़ कुर्रतुल ऐन हैदर के 'कारे जहां दराज़' में बहुत बार इस्ते'माल हुआ है और अच्छा लगता है. यादनामे की एक ख़ूबी ये भी है कि इसमें दीगर अस्नाफ़ की समाई भी हो सकती है, ख़ास तौर से ख़ाके और सफ़रनामे की. इस शुमारे में चंद यादनामे बतौरे-यकजाई पेश किये जा रहे हैं.....

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी

नय्यर मस्ऊद

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी उर्दू के मशहूर नक़्क़ाद, शाइर, अफ़्सानानिगार और 'शबख़ून' के मुदीर हैं. चंद बरस पहले पी.एम.जी. के ओहदे से रिटायर हुए. नय्यर मस्ऊद लखनऊ के अदबी घराने से ता'ल्लुक़ रखते हैं. मुन्फ़रिद अफ़्सानानिगार हैं.इनके कई अफ़्साने शेष में पेश किये जा चुके हैं. फ़ारसी के उस्ताद रहे हैं.

1965-66 की बात है. मेरी मुंह बोली बहन इफ़्फ़त बानो ज़ेबा साहिबा इलाहाबाद गयीं हुई थीं. डॉक्टर मसीह-उज़्ज़मां ने उनके ए'ज़ाज में, उर्दू डिपार्टमेंट, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में एक अदबी नशिस्त (गोष्ठी) का एहतिमाम किया. मा'लूम हुआ कि नशिस्त में ज़ेबा साहिबा के इलावा एक मुक़ामी शाइर शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी साहिब भी कलाम सुनाएंगे. वहां फ़ारूक़ी साहिब को देखा. उनकी शफ़्फ़ाफ़ आवाज़ और आंखों की ज़िहानत की चमक ने मुतास्सिर किया. कलाम भी कुछ नये अंदाज़ का था. एक नज़्म थी :

गुंचा जब मुहरे-लब खोलने का इरादा करे

और ग़जल का ये मिस्रा' याद है :

यूं भी हम इब्ने-आदम नज़्रे-ख़ता रहे हैं.

मा'लूम हुआ कि इलाहाबाद के अदबी हलक़ों में जाने-पहचाने हैं और ए'जाज़ साहिब, एहतिशाम साहिब, मसीहुज़्ज़मां साहिब वग़ैरह इनकी बड़ी क़द्र करते हैं.

फिर मसीहुज़्ज़मां साहिब का ख़त आया कि शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी साहिब इलाहाबाद से एक रिसाला निकाल रहे हैं. रिसाला निकला. शुरू के एडिटर शायद ए'जाज़ साहिव, जा'फ़र रज़ा साहिव वग़ैरह थे. रिसाला बहुत अच्छा छपा था, लेकिन नाम 'शबख़ून' ! जल्द ही रिसाले की पॉलिसी सामने आ गयी. उर्दू में जदीदियत का फ़रोग़ (आधुनिकता का उठान). इसके तीन मुस्तक़िल कॉलम थे. एक 'मरज़ीयाते-

जिन्सी की तश्ख़ीस', दूसरा 'भयानक अफ़साना', तीसरा 'किताबों के तब्सिरे.' ये तीनों कॉलम फ़ारूक़ी के ज़िम्मे थे और 'शबख़ून' को जमाने में इन कॉलमों का बड़ा हाथ था. ख़तों के कॉलम में भी ज़ोरदार बहसें छिड़ती थीं. अफ़्साने, नज़्में, तन्क़ीदी मज़ामीन (आलोचनात्मक लेख) वग़ैरह नये अंदाज़ के और ज़ियादःतर तरक़्क़ीपसंद नज़रीयात के ख़िलाफ़. थोड़े ही दिन में 'शबख़ून' का हर तरफ़ चर्चा हो गया और अदबी फ़ज़ा जाग उठी.

फ़ारूक़ी का तबादला लखनऊ हो गया और कुछ दिन के लिये लखनऊ जदीद अदब का मर्कज़ (केंद्र) बन गया. रामलाल ने एक सेमिनार का भी इंतिज़ाम कर लिया. और भी कई छोटे-बड़े सेमिनार हुए जिनमें शिरकत के लिये बाहर के अहले-क़लम लखनऊ आते और फ़ारूक़ी के यहां ठहरते थे. ज़बरदस्त गुफ़्तगुएं और बहस-मुबाहसे होते थे. बातों-बातों में ये भी तै हो गया कि जिन लोगों की उम्रें चालीस साल से ज़ियादः हो गयी हैं, वो जदीद नहीं हो सकते.

उस ज़माने में फ़ारूक़ी से हर दूसरे तीसरे दिन मुलाक़ात होती थी. फ़ारूक़ी के साथ उनके छोटे बहनोई नफ़ीस भाई लगे रहते थे. उन्हें अदब से सरोकार नहीं था, लेकिन अदबी गुफ़्तगू बड़े ग़ौर से सुनते थे. उनके बड़े-बड़े बाल और घनी मूंछें थीं जो एक बार सिगरेट सुलगाने में आग पकड़ चुकी थी. मेरे घर पर एक दिन आबिद सुहैल और फ़ारूक़ी में अफ़्साने के फ़न पर बहस छिड़ गयी जो दो बजे रात तक चलती रही. नफ़ीस भाई बड़े ग़ौर से सुन रहे थे. फ़ारूक़ी ने आबिद सुहैल को क़ाइल करने के लिये बहुत गहरा नुक्ता निकाला. नफ़ीस भाई खिलखिला कर हंस पड़े. फ़ारूक़ी को गुस्सा आ गया, "ए बाघस, इसमें हंसी की कौन-सी बात है ?"

फिर आबिद सुहैल ने फ़ारूक़ी को क़ाइल करने के लिये फ़ल्सफ़े का सहारा लिया और कई फ़ल्सफ़ियों के क़ौल पेश किये. नफ़ीस भाई बोले, "आप तो पढ़े-लिखे आदमी मा'लूम होते हैं, कुछ लिखते क्यों नहीं ?"

कभी गुफ़्तगू में देर हो जाती तो फ़ारूक़ी मेरे ही घर पर सो जाते. उस वक़्त उनकी मिस्कीनी देखने वाली होती. किसी छोटी चौकी की तरफ़ इशारा करके कहते, "बस इसी पर पड़ रहूंगा. कोई चादर ओढ़ने को दे दीजियेगा."

अपने यहां वो ख़ासे ठाठ-बाट से रहते थे. कम से कम एक नौकर अपने ज़ाती काम के लिये रखते थे. कभी-कभी जमीला फ़ारूक़ी कुछ दिन के लिये लखनऊ आ जातीं और घर का इंतिज़ाम दुरुस्त कर देती थीं, वर्ना ज़ियादःतर फ़ारूक़ी मुलाज़िमों की मनमानियों का शिकार रहते थे. मुलाज़िम भी उनको अजीबो-ग़रीब मिले. एक बार घर में उम्दा चावलों का स्टॉक ख़त्म हुआ. मुलाज़िम ने बचे हुए चावल पका कर ख़ुद नोश कर लिये और फ़ारूक़ी के सामने मोटे चावल पका कर रख दिये. एक साहिब को जब फ़ारूक़ी किसी बात पर डांटते थे, तो वो गुस्से में आकर 'साहब' को

एक वक़्त का फ़ाक़ा देने का फ़ैसला कर लेते और उस दिन दफ़्तर में उनका लंच नहीं पहुंचाते थे.

फ़ारूक़ी की एक अजीब आदत थी जो मैंने और किसी में नहीं देखी. कड़कड़ाते जाड़ों में सवेरे जागते और आंखें बंद किये-किये नौकर को आवाज़ देते. वो चाय की ट्रॉली लाता. फ़ारूक़ी लिहाफ़ में बैठे-बैठे तीन चार प्यालियां पीते, फिर लिहाफ़ फेंक कर उठ खड़े होते और सीधे हमाम में जाकर रात के रखे हुए ठंडे पानी से नहा लेते. वहां से सिर्फ़ तौलिया लपेटे हुए बरामद होते. शेव करते, कपड़े पहनते, इतने में नौकर नाश्ता लगा देता. नाश्ता करते और कमाल ये था कि नहाने के बा'द नाश्ते में चाय नहीं पीते थे. उनका परमानेंट नज़ला शायद इसी मा'मूल का नतीजा था.

ये बात कम लोगों को मा'लूम होगी कि फ़ारूक़ी एक ज़माने में हकलाने लगे थे (बल्कि उनका कहना है कि अब भी कभी-कभी हकलाते हैं.) हकलाहट का सबब उनके वालिद की सख़्तगिरी थी. उन से गुफ़्तगू करते वक़्त फ़ारूक़ी पर कुछ ऐसी झिझक तारी होती थी कि अल्फ़ाज़ उनके मुंह में अटकने लगते थे. एक बार घर में फ़ारूक़ी के लिये जो चाय आयी, उसका बर्तन कुछ अच्छा नहीं था. फ़ारूक़ी ने इस पर नाक-भौं चढ़ाई. वालिद ने देख लिया और 'बच्चे मियां' पर बरस पड़े (ये फ़ारूक़ी का घर का नाम था)

''बस मैं वहां से उठ कर चला आया.''

उनके वालिद शरीअत के बड़े पाबंद और बाउसूल बुज़ुर्ग थे. उन्हें फ़ारूक़ी की आज़ादियां पसंद नहीं थीं और उनका गुमान ये था कि फ़ारूक़ी नाकारा ज़िंदगी गुज़ारेंगे. लेकिन बा'द में उन्हें अपने बेटे पर फ़ख़्र होने लगा, इसलिये कि फ़ारूक़ी ने दुन्यावी तरक़्क़ी भी बहुत की और अदबी दुन्या में भी नाम कमाया.

एक बार कहने लगे, ''भई रफ़ी' अहमदख़ां का मुस्तनद (अधिकारिक) कलाम मिलना चाहिये.''

मैंने बताया कि सुनते हैं, सबाहुद्दीन उमर साहिब के पास उनका दीवान मौजूद है, लेकिन वो क़बूलते नहीं. सबाहुद्दीन साहिब रफ़ी' अहमद ख़ां के बेतकल्लुफ़ मुलाक़ातियों में थे और उनके पास दीवान होने की बात लखनऊ में मशहूर थी. फ़ारूक़ी ने मा'लूम नहीं किस तरह उन्हें शीशे में उतार लिया और ख़ास लोगों को इत्तिला दी कि फ़ुलां दिन सबाहुद्दीन साहिब के यहां चलना है. उनका खाना वहीं होगा और उसी दिन सबाहुद्दीन साहिब दीवाने-रफ़ी' पढ़ पर सुनाएंगे जिसे रिकॉर्ड कर लिया जायेगा. मुक़र्ररा दिन सब वहां पहुंचे. खाना हुआ. उसके बा'द सबाह साहिब ने दीवान निकाला. टेप रिकॉर्डर ऑन किया गया और रफ़ी' अहमद ख़ां की ग़ज़लों पर ग़ज़लें कैसेट पर उतरने लगीं. आख़िर की कुछ ग़ज़लें पढ़ने से पहले सबाह साहिब ने कहा कि अभी तक जो कलाम पढ़ा गया, वो सौ फ़ीसद रफ़ी' अहमद ख़ां का था. अब जो कलाम

पढ़ रहा हूं इसमें कुछ कलाम शौकत थानवी वग़ैरह का भी है. वो कलाम भी रिकार्ड कर लिया गया. इस तरह वो पूरा दीवान रिकार्ड हो गया. फिर बातों का सिलसिला चला. सबाहुद्दीन साहिब ने रफ़ी' अहमद ख़ां के बहुत-से वाक़िआत और उनकी वफ़ात का पूरा हाल सुनाया. उसी वक़्त ये भी तै हो गया कि महदूद ता'दाद में दीवान छपवा लिया जायेगा. उसमें दो मुक़द्दमे होंगे. एक में सबाह साहिब रफ़ी' अहमद के हालात और दूसरे में फ़ारूक़ी उनके कलाम पर तब्सिरा करेंगे. दीवान काग़ज़ पर उतार भी लिया गया था, लेकिन उसके छपने की नौबत नहीं आयी. अब वो मा'लूम नहीं कहां है ? सबाह साहिब ने मना' कर दिया था कि रिकॉर्डिंग को आम न किया जाए, इसलिये कि वो अपनी ज़बान से मुसल्सल इस क़िस्म के कलाम का सुनाया जाना पसंद नहीं करेंगे. फिर सबाह साहिब की वफ़ात हो गयी. रिकॉर्डिंग महफ़ूज़ है जिस में हर शे'र पर सुनने वालों की दाद का शोर उठता है और उसमें सबसे बलंद आवाज़ फ़ारूक़ी ही की होती है.

अब ज़ाहिर है, फ़हशियात का वो शौक़ भी नहीं रहा. लेकिन अभी कुछ दिन हुए (अक्टूबर 2002), फ़ारूक़ी का फ़ोन बहुत दिन के बा'द आया. कहने लगे, "आपका फ़ोन नहीं मिल रहा था. मैंने कई बार मिलाया लेकिन बात नहीं हो सकी. इधर मा'लूम नहीं क्या मूड आया कि मैंने पचास-साठ अश्आर मौज़ूं कर डाले. कुछ ग़ालिब के शे'रों में तह्रीफ़ (बदलाव) की गयी थी. बाक़ी तबा'ज़ाद (मौलिक) थे. आपको सुनाना चाहता था, मगर फ़ोन नहीं मिला. फिर मा'लूम नहीं क्यों, मूड बदल गया और मैंने वो सब शे'र मिटा दिये."

लेकिन कुछ शे'र उन्हें ज़रूर याद होंगे.

सरदार हुसैन हमारे बहुत अच्छे दोस्त थे. 'शबख़ून' में भयानक अफ़साने का सिलसिला रुक गया था. सरदार हुसैन से भयानक अफ़्सानों के तर्जुमे करा के छापे गये. अफ़्सानों का इंतिख़ाब ज़ियादःतर फ़ारूक़ी करते और सरदार हुसैन उनका तर्जुमा करते, फिर फ़ारूक़ी तर्जुमे की ग़लतियों को सुधारते थे. कुछ ग़लतियां अफ़्सानों ही की तरह भयानक होती थीं जिन पर सरदार हुसैन की ख़ूब हंसी उड़ायी जाती थी. एक फ़साने का पैराग्राफ़ इतना टेढ़ा था कि फ़ारूक़ी की समझ में नहीं आ रहा था कि उसका तर्जुमा किस तरह किया जा सकता है. वो बैठे इसी पर ग़ौर कर रहे थे कि सरदार हुसैन अपना तर्जुमा लिये हुए आ पहुंचे. फ़ारूक़ी ने अस्ल अंग्रेज़ी अफ़्साना सामने रखा और सरदार हुसैन का तर्जुमा पढ़ना शुरू किया. वो पैराग्राफ़ क़रीब आया तो फ़ारूक़ी हंसने पर तैयार हो गये. लेकिन जब सरदार ने अपना तर्जुमा पढ़ा तो वो इतना सहीह् और रवां था कि फ़ारूक़ी हक्का-बक्का रह गये. सरदार से पूछा, "अरे ज़ालिम, इसका तर्जुमा तू ने किस तरह कर लिया ?"

सरदार ने उल्टा पूछा, "क्यों, क्या इसका तर्जुमा मुश्किल था ?"

"मुश्किल नहीं, नामुम्किन."

सरदार कहने लगे, "मुझे पता भी नहीं चला, बस तर्जुमा करता चला गया."

ये तर्जुमे किताबी सूरत में छप गये हैं और भयानक अफ़्सानों के बेहतरीन मज्मूओं में शामिल होने लाइक़ हैं.

सरदार हुसैन (अब मर्हूम) अजब बाग़ो-बहार आदमी थे. उनके पास लतीफ़ों और नक़्लों का ज़बरदस्त ज़ख़ीरा था. जब वो बातों के फूल खिलाने पर आते, तो हमारी महफ़िल क़हक़हों से गूंजने लगती और फ़ारूक़ी का तो ये हाल होता था कि हंसते-हंसते पलंग पर से गिर पड़ते थे.

एक दिन हम लोग एक दोस्त के यहां से वापस आ रहे थे. सड़क क़रीब-क़रीब सुनसान थी. रास्ते में एक भैंस हम लोगों को देख कर अजीब आवाज़ में डकरायी और किनारे हो गयी. फ़ारूक़ी के मुंह से एक गाली निकली और उन्होंने गाड़ी की रफ़्तार बढ़ा दी. कुछ दूर चल कर उसके डकराने की आवाज़ फिर बहुत क़रीब से सुनाई दी, हालांकि हम उसे बहुत पीछे छोड़ आये थे. फ़ारूक़ी ने फिर गाली दी और गाड़ी की रफ़्तार और तेज़ कर दी. लेकिन कुछ देर बा'द फिर गाड़ी के क़रीब से डकराने की आवाज़ आयी. मैंने कहा, "शायद उस भैंस का आसेब हमारे पीछे लग गया है." और वाक़िई आवाज़ ऐसी ही थी जैसे भूत-प्रेत की आवाज़ होना चाहिये. फ़ारूक़ी ने फिर गाली दी और बताया, "भाई, हमारी गाड़ी का हॉर्न ख़राव हो गया है. मरम्मत को दिया है. मैकेनिक ने आरज़ी तौर पर ये कर्कश हॉर्न फ़िट कर दिया है. चाहता हूं कि न बजाऊं मगर कोई न कोई रास्ते में आ जाता है तो बजाना पड़ता है." उनके मुंह से फिर गाली निकली, क्योंकि रास्ते में एक और साइकिल सवार आ गया था.

जिस ज़माने में फ़ारूक़ी कानपुर में तै'नात थे, एक दिन लखनऊ आये. किसी सख़्त उलझन में मुब्तला थे. बहुत देर तक बिल्कुल ख़ामोश बैठे रहे, फिर बोले, "मैंने फ़ैसला कर लिया है कि मुलाज़मत से इस्ते'फ़ा दे दूं."

उनसे जब इस फ़ैसले का सबब पूछा तो बताया कि उनके पी.एम.जी. साहिब उनके पीछे पड़ गये हैं. उन्हें ये ख़याल होने लगा कि फ़ारूक़ी महकमे में मुसलमानों को ज़ियादः भरती कर रहे हैं. मैंने पूछा, "क्या ये हक़ीक़त है ?"

"हां, किसी हद तक." उन्होंने जवाब दिया, "दूसरे मुसलमान अफ़सर एहतियात के मारे अहल मुस्लिम उम्मीदवार को भी काट देते हैं. मैं ऐसा नहीं करता. पी.एम.जी. साहिब खुल कर ये बात नहीं कहते. (लेकिन फ़ारूक़ी पीएमजी का ज़िक्र इस तरह

आअदब अंदाज़ में नहीं कर रहे थे) मेरे कामों में तरह-तरह की रुकावटें डालते हैं. बिल्कुल मुझ से क्लर्कों वाला बरताव करते हैं."

देर तक दिल का बुख़ार निकाल कर वापस आ गये. अगली बार आये तो बहुत ख़ुश थे. कहने लगे, "उसने मुझे क्लर्क समझ लिया था, तो मैंने भी क्लर्कों वाली हरकतें शुरू कर दीं. उस के हर ऑर्डर में तरह-तरह की क़ानूनी अड़चनें निकाल देता था और बार-बार ऑर्डर में तब्दीलियां कराता था. आजिज़ आ कर उसने कह दिया मिस्टर फ़ारूक़ी, आप जो मुनासिब समझें, वो कीजिये."

फ़ारूक़ी के पास अक़्ले-दुन्या की कमी नहीं है, लेकिन कई बार अपने निजी मुआमलात में उनकी क़ुव्वते-फ़ैसला जवाब दे जाती है. एक बार उन्होंने मुझे बुला कर अपने एक अदीब दोस्त के कुछ ख़त मेरे सामने रख दिये और कहा, "ये शख़्स कुछ दिन से मेरे पीछे पड़ गया है. उसके ख़त मुलाहज़ा कीजिये."

ख़तों में सीधी-सीधी धमकी थी कि आप के कुछ ख़त मेरे पास हैं जिन से आप के महकमे को ख़ास तौर पर दिलचस्पी होगी. सोचता हूं, उन लोगों को ये ख़त भेज दिये जाएं. आपका क्या ख़याल है ? ये ब्लेक मेलिंग का लहजा था. फ़ारूक़ी ने बताया कि उन्होंने एक ज़माने में कुछ दोस्तों को ख़त लिखे थे जिनमें 'शबख़ून' के माली हालात का ज़िक्र था और उनसे ये भी पता चलता था कि रिसाले के मालिक दरअस्ल शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी हैं.

"अगर मेरे महकमे को ये ख़त दिखाये गये तो मुझ पर सरकारी मुलाज़मत में होते हुए ज़ाती कारोबार करने का संगीन इल्ज़ाम लग सकता है. ख़ैर इल्ज़ाम तो मैं दफ़ा कर दूंगा, लेकिन उससे पहले ख़ासी परेशानी और उससे ज़ियादः बदनामी का सामना करना होगा."

उन अदीब ने अभी ये नहीं लिखा था कि महकमे को ख़त न दिखाने की क़ीमत वो क्या चाहते हैं ? फ़ारूक़ी की समझ में नहीं आ रहा था कि उनको ख़त का जवाब बराहे-रास्त दें या फ़ुलां-फ़ुलां को बीच में डालें. आख़िर ये तै पाया कि किसी को मध्यस्थ बनाया जाए, न ख़त का जवाब दिया जाए. उसके बा'द उनके शायद दो ख़त और आये कि वो जवाब का इंतिज़ार कर रहे हैं, लेकिन फ़ारूक़ी चुप साधे रहे. आख़िर वो भी ख़ामोश हो कर बैठ गये.

दूसरों को उनके मुआमलात में फ़ारूक़ी बहुत मुनासिब मश्वरे देते हैं. फ़रवरी 1975 में मेरे बहनोई डा. मसीहुज़्ज़मां की दिल के दौरे में वफ़ात हो गयी. मेरी बहन मौत से और ख़ासकर मुर्दे से बहुत डरती थीं. दिल की मरीज़ भी थीं. मसीहुज़्ज़मां साहिब की लाश अस्पताल से लायी जाने के पहले ही बहन को एहतियातन फ़ारूक़ी

के यहां पहुंचा, दिया गया था. मैंने फ़ारूक़ी से कहा कि शौहर की मय्यत उठते वक़्त बीवी का शहर में होते हुए घर में मौजूद न होना ग़ैर मुनासिब बात मा'लूम होती है.

फ़ारूक़ी बोले, "ग़ैर मुनासिब क्या, निहायत बुरी बात है. उनको बिल्कुल मौजूद रहना चाहिये."

बहन के डॉक्टर हमीद उस्मानी साहिब इस तज्वीज़ की मुख़ालफ़त कर रहे थे. फ़ारूक़ी ने उनसे देर तक हुज्जत की तो वो झल्ला कर बोले, "साहब, उनको घर में लाया गया तो वो मर जाएंगी."

फ़ारूक़ी बोले, "इससे बेहतर क्या हो सकता है कि औरत शौहर के साथ ही मर जाये."

इसके बा'द उस्मानी साहिब कुछ नहीं कह सके. फ़ारूक़ी ने बहन को घर पहुंचा दिया और मय्यत उनकी मौजूदगी में उठी. उनकी हालत वाक़िई ख़राब हो गयी थी, लेकिन ये सदमा वो झेल ले गयीं और शौहर की वफ़ात के उन्नीस साल बा'द 1994 तक ज़िंदा रहीं.

डॉ. केसरी किशोर हमारे बाग़ो-बहार दोस्त थे. अदबी ज़ौक़ आ'ला दरजे का था. शाइर भी बहुत अच्छे थे. एक बार फ़ारूक़ी को डाक से एक लिफ़ाफ़ा मिला. उनकी शान में एक नज़्म थी. कुछ ता'रीफ़ी, कुछ मज़ाक़िया. बाज़ शे'र ये हैं :

सुख़न के शहर में तनहा खड़ा है फ़ारूक़ी
भिड़ा है भीड़ से अड़ पर अड़ा है फ़ारूक़ी
कभी मुनीर की मुर्ग़ी कभी है ज़ाग़े-ज़फ़र (कौआ)
तुयूरख़ाने में क्या बोलता है फ़ारूक़ी (चिड़ियाघर)
इसी से मुम्किन है अब सफ़ा-ए-बाग़े-सुख़न
जदीद ख़स के लिये कहरबा है फ़ारूक़ी
अदबसरा में कोई दूसरा नहीं ऐसा
बुरा है फ़ारूक़ी या भला है फ़ारूक़ी
लिखो लिखो कि बड़ी लिख रहा है तहरीरें
कहो कहो कि ग़लत कह रहा है फ़ारूक़ी

ख़त मिलते ही फ़ारूक़ी ने फ़ोन किया : "क्यों साहिब, ये क्या हरकत है ?"

फिर उन्होंने ये नज़्म पढ़ कर सुनाई और कहा कि ये आप ही लोगों की कारस्तानी है. इधर से इन्कार किया गया तो कहने लगे, "डॉक्टर के सिवा मुनीर नियाज़ी और ज़फ़र इक़्बाल का हवाला इस तरह और कौन दे सकता है ? और 'बुरा है फ़ारूक़ी या

भला है फ़ारूक़ी' में जिस बेतकल्लुफ़ी से तस्कीने-औसत....."

उन्हें बहुत समझाया, लेकिन वो मानने पर तैयार नहीं हुए. इसके बा'द इसी अंदाज़ की कई और नज़्में ख़ुद केसरी किशोर, वलीउलहक़ अन्सारी, उमर अन्सारी, ज़ेब ग़ौरी से वसूल हुईं और उनकी तस्नीफ़ (रचना) में फ़ारूक़ी भी शामिल थे.

ज़ेब ग़ौरी को फ़ारूक़ी बहुत परेशान करते थे. उनकी ग़ज़लों के कई-कई शे'र इसलिये कटवा देते थे कि उनकी वज्ह से ग़ज़ल लम्बी हुई जाती थी. ये तो ज़ेब ही का हौसला था कि वो अच्छे-भले शे'रों को काटने पर तैयार हो जाते थे. लेकिन एक बार उन्होंने बहस शुरू कर दी, इसलिये कि फ़ारूक़ी उनकी पंद्रह, सोलह शे'रों की एक ग़ज़ल के पांच शे'र कटवाये दे रहे थे. ये शे'र ज़ेब को बहुत पसंद थे. आख़िर फ़ैसला हुआ कि किसी तीसरे आदमी की भी राय ली जाये. नज़रे-इंतिख़ाब मुझ पर पड़ी. दोनों हज़्रात मेरे यहां आये. ज़ेब ने ग़ज़ल मुझे दी और कहा कि इसमें से पांच शे'र कम कर दीजिये. इत्तिफ़ाक़ की बात कि मैंने भी वही पांच शे'र निकाल दिये. ज़ेब ठंडी सांस भर कर बोले, "अजब ज़ालिमों से वास्ता पड़ा है." और पांचों शे'र क़लमज़द कर दिये.

ज़ेब की बड़ी तमन्ना थी कि फ़ारूक़ी उनकी शाइरी पर मज़्मून लिखें, लेकिन फ़ारूक़ी को कोई जल्दी नहीं थी; इसलिये कि ज़ेब का फ़न रोज़-ब-रोज़ निखरता जा रहा था. ये ख़बर नहीं थी कि उनका वक़्त क़रीब आता जा रहा है. एक दिन ज़ेब अचानक ख़त्म हो गये. कानपुर में उनकी याद में जल्सा हुआ. फ़ारूक़ी ने ज़ेब की शाइरी पर मज़्मून पढ़ा और ये कह कर रोये भी कि ये मज़्मून ज़ेब की ज़िंदगी में भी लिखा जा सकता था.

उस वक़्त फ़ारूक़ी ज़ियादःतर जदीद अदब और अदीबों के बारे में लिखते थे और उनको 'जदीदियत का इमाम' कहा जाता था. लेकिन वो बेपनाह पढ़ते भी थे. तफ़रीह के नाम पर ताश खेल लेते थे या ग़ज़लों के रिकॉर्ड सुनते या किसी मशहूर मुक़र्रिर (वक्ता) की तक़रीर में चले जाते थे और अपनी बच्चियों को उर्दू पढ़ाते थे. ग़ालिब शुरू ही से उनके महबूब शाइर थे. अगरचे आम ख़याल यही था कि उनको क्लासिकी अदब में ज़ियादः दख़्ल नहीं है और वो पश्चिमी नक़्क़ादों और अदीबों से ज़ियादः मुतास्सिर हैं, लेकिन दरहक़ीक़त उनका क्लासिक का मुतालआ भी बहुत था. उर्दू फ़ारसी शाइरों का बहुत-सा कलाम उनको याद था. रफ़्ता-रफ़्ता उनकी दिलचस्पी हमारे क्लासिकी अदब और पूर्वी तन्क़ीद में बढ़ने लगी जिसका सबसे अहम काम 'शे'रे-शोरअंगेज़' की शक्ल में सामने आया.

एक दिन फ़ारूक़ी का फ़ोन आया, "आपको एक ख़बर देना है. इससे पहले कि आपको किसी दूसरे ज़रीए से इत्तिला मिले, मैंने सोचा मैं ही बता दूं."

मैंने ख़याल किया कि शायद उन्हें कोई बड़ा अदबी इन्आम मिला है. ख़बर सुनने के लिये सावधान हो गया. लेकिन उन्होंने बताया कि डॉक्टरी मुआयने से मा'लूम हुआ है कि वो दिल की संगीन बीमारी में मुब्तला हैं. कुछ अर्सा बा'द बाईपास सर्जरी हुई और कामयाब हुई, लेकिन उनके मा'मूलात में फ़र्क़ आ गया. सिगरेट बहुत पीते थे. फिर किसी के कहने पर सिगरेट छोड़ कर पाइप शुरू कर दिया था. अब उसे भी छोड़ा. पढ़ने-लिखने का सिलसिला भी कुछ दिन के लिये थम गया. लेकिन इसके बा'द फिर उनके अदबी मशग़ले इसी ज़ोर-शोर के साथ शुरू हो गये. उन्होंने उर्दू दास्तानों का मुतालआ करके उन पर काम शुरू किया जिसकी एक जिल्द आ चुकी है. 'उर्दू का इब्तिदाई ज़माना' उनकी एक और अहम तस्नीफ़ है जिस पर उन्होंने बहुत मेहनत की है. इनके इलावा भी अंग्रेज़ी, उर्दू में कई किताबें आ चुकी हैं और कई तैयारी की मंज़िल में हैं.

इसी ज़माने में फ़ारूक़ी ने एक और बहुत अहम काम ये किया है कि हमारे क्लासिकी शाइरों को बुन्याद बना कर अफ़्साने लिखे जिनका मज्मूआ 'सवार' के नाम से शाए' हुआ. ये अफ़्साने ख़ास इस मक़्सद से लिखे गये हैं कि हमारी अदबी और तहज़ीबी रवायत के मुख़्तलिफ़ अनासिर (तत्वों) इस बहाने से महफ़ूज़ हो जाएं. इस वक़्त भी ये अफ़्साने दस्तावेज़ी अहमियत रखते हैं. वक़्त गुज़रने के साथ इनकी क़द्रो-क़ीमत बढ़ती जायेगी.

फ़ारूक़ी के साथ मेरी बड़ी दिलचस्प सुह्बतें रही हैं. डॉ. केसरी किशोर, ज़ेब ग़ौरी, इर्फ़ान सिद्दीक़ी वग़ैरह इन सुह्बतों में और जान डालते रहे हैं. लेकिन अब फ़ारूक़ी इलाहाबाद में रहते हैं. लखनऊ साल दो साल में एक दो दिन के लिये आ जाते हैं. मेरा इलाहाबाद जाना और भी कम हो गया है. अब गाहे-गाहे उनसे फ़ोन पर बात हो जाती है. इलाहाबाद और लखनऊ के दरमियान सफ़र लंबा नहीं है. लेकिन मुसाफ़िर थक गये है और बक़ौल फ़िराक़ :

यारों ने कितनी दूर बसाई हैं बस्तियां

या बक़ौले मुस्हफ़ी :

याराने-रफ़्ता, आह बड़ी दूर जा बसे ❑

(रौशनाई, जुलाई-सितम्बर 03, कराची)

अदबीस्तान, दीनदयाल रोड, लखनऊ

मकर चांदनी-11

अहमद हमेश

अफ़्सानानिगार, शाइर और तिमाही 'तश्कील', कराची के मुदीर अहमद हमेश अपनी ज़िंदगी के हालात क़िस्तवार 'तश्कील' में शाए' कर रहे हैं. 11 वीं क़िस्त यहां पेश की जा रही है जो पाकिस्तान में उनके इब्तिदाई दिनों के बारे में है.

मगर अब क्या हो सकता था. सिवाय अपनी नन्ही बहन अज़्रा की पुकार और घाघरा नदी को अलविदा कहते हुए दिल पर भारी सिल रखने के और इस सिल तले बहन की मुहब्बत दबती, कुचलती और पिसती जा रही थी. फिर बहन से बिछुड़ने का दुख और ग़म गोया कोई अनदेखा ख़ौफ़ था जो सिल तले से निकल कर अनदेखी मंज़िल की जानिब उड़ा जा रहा था. मुझे हमराह ले के जाने वाला कारिंदा डिब्बे के कोने वाली सीट पर इत्मीनान से बैठा हुआ अंगोछा खोल के उसमें लिपटी हुई बिरहें खा रहा था. तब मा'लूम नहीं, डिब्बे की मुख़्तलिफ़ सीटों पे बैठे, लेटे या सोने की तैयारी करते हुए मुसाफ़िरों और रात के इब्तिदाई अर्से के दौरान रौशन बल्बों को भी नुमायां देखते हुए मैं न जाने कहां गुम था!

रात गुज़र गयी. सफ़र था कि लड़कपन के गुज़रे हुए दिनों की यादों की फ़िल्म चल रही थी. मुझे मा'लूम नहीं था कि आवाज़ व लय के दबे-दबाये नुक़ूश थे, जो अंदर ही अंदर समाअत को कुछ यूं बाज़गश्त कर रहे थे :

अकड़ बकड़ बम्बे बो.....अस्सी नब्बे पूरे सौ
सौ में लागा धागा.....चोर निकल के भागा

चल चल चमेली बाग़ में मेवा खिलाऊंगी.....मेवे की डाल टूट गई तो चादर बिछाऊंगी
चादर का कोना फट गया, दर्ज़ी बुलाऊंगी.....दर्ज़ी की सुई टूट गई, घोड़ा बुलाऊंगी

घोड़े की टांग टूट गयी, हल्दी लगाऊंगी

मगर जो चोर निकलके भागा, वो भाग के जा कहां रहा था! और बाग़ में मेवा खिलाने के लिये जाने वाली कहीं मेरी बहन अज़्रा तो नहीं थी. और जिसने घोड़े की टूटी हुई टांग पे हल्दी लगायी थी, क्या वो मैं था! इसका अंदाज़ा भला मैं कैसे कर सकता था! दौराने-सफ़र तो मिट्टी पर चमचम करती धूप भर का वक़्फ़ा मिला था और धूप में आगरे का क़ियाम, वो भी घंटे भर का. सुना है कि पूरे चांद की चांदनी में ताजमहल क़ाबिले-दीद होता है. मगर मज्बूरी ये थी कि मैंने तेज़ धूप को चांदनी तसव्वुर करके ताजमहल का नज़्ज़ारा किया. इसके बा'द तो मुहलत ही नहीं मिली कि मैं धूप और चांदनी में फ़र्क़ पर ग़ौर कर पाता. आगरे के बा'द ही तो रेलवे स्टेशन के बड़े प्लेटफ़ार्म पर पाकिस्तान का टिकट लेने के लिये मैंने टिकट देने वाले को दस रुपये का नोट दिया तो उसने एक रुपया और तलब किया. तभी पता चला कि वो एक रुपया रिश्वत ले रहा था. इस पर मुझे लड़कपन की जोशीली ईमानदारी सूझी, तो मैं झट उसकी रिपोर्ट करने स्टेशन मास्टर तक जा पहुंचा. बस क्या था, स्टेशन मास्टर ने शायद दफ़्तरी फ़र्ज़ दिखाते हुए एक रुपये की रिश्वत लेने वाले कारिंदे को तलब कर लिया. ये अजब वक़ूआ था कि जब कारिंदा मेरे आगे हाथ जोड़-जोड़ कर गिड़गिड़ा रहा था कि मैं किसी तरह उस पर से एक रुपया रिश्वत का इल्ज़ाम वापस ले लूं. चाहिये तो ये था कि मैं उस पर रहम करता, मगर मैं अपनी जगह तना हुआ खड़ा था गोया मैंने एक मा'मूली रेलवे मुलाज़िम को रिश्वत लेने के इल्ज़ाम में पकड़वा के कोई बहुत बड़ा कारनामा अंज़ाम दिया हो. इसके बा'द ही दोपहर को मैं पाकिस्तान की नई-नई इंतिज़ामिया के बाक़ाइदा कारिंदों की ओछी कार्रवाइयों और हिंदुस्तान के मुख़्तलिफ़ इलाक़ों से वहां जमा' हुए मुहाजिरीननुमा पनाहगुज़ीनों पर एक नज़र कर रहा था. शायद उन दिनों के वज़ीरे-आ'ज़म लियाक़तअली ख़ां के हुक्म से पनाहगुज़ीनों की आबादकारी के इब्तिदाई मेज़बान कारिंदे के कमरे में मैंने देखा कि हैदराबाद दकन से आई हुई एक तरहदार लड़की अपने दो बड़े भाइयों के साथ बैठी थी. कुछ इस अंदाज़ से कि मेज़बान कारिंदा अपना दायां हाथ पीछे से उसके फ़ैशनेबुल आधे कटे हुए बालों पर फेर रहा था और साथ ही उसके भाइयों से कुछ समझ में न आने वाली पूछताछ कर रहा था. शायद उसने मुझ से कुछ अंदेशा महसूस किया तो रहमदिली दिखाते हुए मेरे हाथ पर दस रुपये का नोट रख दिया और एक पर्ची पर कुछ लिख कर मुझे चपरासी के ज़ेरे-निगरानी बाहर भेज दिया. जबकि पर्ची के ज़रीए मुझे एक केबिननुमा होटल से तंदूर की रोटियां और तामचीनी के बर्तन में झोलदार गोश्त खाने को मिला. भूख ज़ोरों की लगी थी. जल्दी-जल्दी सब चट कर गया, फिर भी पेट नहीं भरा था. इसके बा'द मा'लूम नहीं, कब तीसरा पहर हुआ.....एक तरफ़ एकदम मेरी नज़र चौकोर गड़े हुए बांस पर चादर घिरे हुए हिस्से पर पड़ी. अंदर से घुटी-घुटी ज़नाना चीख़

सुनाई दे रही थी जब कि बाहर खड़े एक अधेड़ उम्र मर्द और औरत—दोनों के चेहरों पर एक बेबसी का भाव था और वो रो रहे थे. ये मंज़र मेरी समझ में नहीं आ रहा था. काफ़ी देर के बा'द घिरी हुई चादरों के हिस्से से बावर्दी कारिंदे बाहर निकले और अधेड़-उम्र शख़्स और उसकी बीवी को डांट के हुक्म दिया कि वो अंदर जा के अपनी बेटी को गुस्ल कराएं.....ये सब क्या था! मुझे तो ऐसा लगा, मैं किसी ग़लत जगह खड़ा था, मुझे जल्दी से वहां से हट जाना चाहिये था. ये ख़याल आते ही मैं पलट कर एक तरफ़ को चल पड़ा.

लगभग सौ क़दम चल कर एक बैरक में पहुंचा. मा'लूम हुआ कि उसके पीछे पनाहगुज़ीनों की पर्चियां बनाने वालों का दफ़्तर था. किसी तरह मुझे भी पर्ची बनवानी पड़ी. मगर एक चुग्गी दाढ़ी वाले कारिंदे ने मेरी बग़ल में दबे थैले से साथ लायी हुई जिगर मुरादाबादी की किताब निकाल ली और ज़ुबानी ये कहा कि गोया मैंने वो किताब उसे तुहफ़े में दे दी हो. ये ज़बरदस्ती का तुहफ़ा मुझे बहुत अखरा, मगर मैं सब्र करके रह गया. इस पर मज़ीद सितम ये हुआ कि एक चोर मेरे पीछे लग गया और जेब में रखे हुए तीन रुपये निकाल लिये. अब एक फूटी कौड़ी भी मेरे पास नहीं होती. मज्बूरन पाकिस्तान रेलवे स्टेशन पे मैंने मुसाफ़िरों से आना, दो आने,चार आने की भीख मांगी. बमुश्किल पौने दो रुपये इकट्ठा हुए, तो सवेरे का नाश्ता करने एक टी-स्टाल पे गया. देखा कि टी स्टाल वाला इलाक़ाई ख़दो-ख़ाल में और सर पर कढ़ी हुई टोपी से मुक़ामी लग रहा था. मैंने एक प्याली चाय और केक-बिस्किट के दाम पूछने से पहले ही उसको नौ आने दे दिये. फिर लगा दो अदद केक-बिस्किट के साथ चाय पीने, यूं नाश्ता करके टी-स्टाल से हटने लगा, तो उसने हाथ बढ़ा कर मेरा गला पकड़ लिया और लगा मुझ से एक कप चाय और चार अदद केक-बिस्किट के बारह आने तलब करने. मैंने तालिबे-इल्मी के वक़्त की कम्यूनिस्ट पार्टी के जल्से-ज़ुलूस में शरीक हो के एहतिजाजी ना'रे लगाने की सलाहियत से काम लिया और चीख़-चीख़ के आसपास के मुसाफ़िरों के बीच उसे लान-तान करने लगा कि वो सरासर बेईमानी और ज़ियादती से पेश आ रहा था, मगर उसने कोई परवाह किये बग़ैर ज़ोरदार लहजे में डपट कर न सिर्फ़ मेरी जेब से सारे पैसे छीन लिये, बल्कि मुक़ामी गालियां देते हुए मेरे मुंह पर थप्पड़-घूंसे मारे. मेरे दांतों से ख़ून रिसने लगा. मैं अपनी बेबसी पर रो पड़ा और मुंह पोंछते हुए मुसाफ़िरों से मदद मांगने लगा. ज़रा देर पहले ही मैंने जिन मुसाफ़िरों से भीख मांगी थी, उनमें से चंद अभी आसपास फिर रहे थे. उन्होंने मुझे पहचान लिया, मगर मा'लूम नहीं क्यों, वो अब मुझे उठाईगिरा समझ रहे थे. इतने में एक ट्रेन आती हुई दिखाई दी. मा'लूम हुआ कि कराची जाने वाली ट्रेन थी. मेरे जी में आयी कि क्यों न ट्रेन में सवार हो कर कराची चल पड़ूं. याद आया कि कराची में हसनात चचा के सास-ससुर और साले-सालियां रह रहे थे. तभी ट्रेन प्लेटफ़ार्म से आ

लगी. झट से एक डिब्बे में सवार हो गया. मन ही मन में डरता रहा कि टिकट तो नहीं लिया था, कहीं रास्ते में टी.टी. चैकिंग करते हुए मुझे बग़ैर टिकट पकड़ न ले. किसी तरह जी कड़ा करके मैं अपनी सीट पर जम के चुपचाप बैठा रहा.

दोपहर के वक़्त ट्रेन जब कराची कैंट पहुंची तो मैं हिम्मत करके प्लेटफ़ार्म पर उतर गया. गेट पर टिकट चैक करने वाले गेट कीपर ने मुझे छोड़ दिया. अब मैं पैदल ही चल पड़ा. देहाती तो था ही. वैसे भी दो तीन कोस तो पैदल चल ही सकता था. यूं ही चलते-चलते मैं एक बारौनक़ बाज़ार की सड़क के हाशिया राह पर पहुंचा. जिन्नाह कैप पहने हुए एक अधेड़ उम्र राहगीर से पूछा तो मा'लूम हुआ कि मैं कराची के सद्र डाकख़ाने वाली फ़ुटपाथ पर खड़ा था. या'नी जिसे मैं हाशिया राह समझ रहा था, वो फ़ुटपाथ थी. आसपास लोग ख़रीदारी कर रहे थे. मा'लूम हुआ कि ईद आने वाली थी. ईद का ख़याल आते ही मैं रो पड़ा. ऐसी हालत में सद्र से गुज़रता हुआ मैं एक चौड़ी सड़क के फ़ुटपाथ पर चल रहा था और साथ ही कहीं भी किसी राहगीर को रोक-रोक कर कुछ न कुछ पूछ लेता. किसी ने क़ाइदे-आ'ज़म जिन्नाह के मज़ार की निशानदेही की, तो किसी ने गुरु मंदिर और जमशेद रोड के नाम बताये. यहां तक कि एक बदबूदार नालानुमा नदी पार करनी पड़ी, तो पता चला कि वो लियारी नदी थी. लियारी नदी को पार करके मैं अब ऐसी राह से गुज़र रहा था जो जून की धूप में तपते हुए मकानों के आबाद उजाड़पन की सत्ही झलक दे रही थी. गोया मेरी इब्तिदाई उम्र के दौरान कल्पना थी कि मैं आबादी में उजाड़पन देख रहा था. मगर मुझ में इसका तज्ज़िया (विश्लेषण) करने की सलाहियत नहीं थी कि आख़िर हिंदुस्तान के मुख़्तलिफ़ इलाक़ों से आ-आ के बेशतर राजधानी कराची में ही क्यों सुकूनत इख़्तियार कर रहे थे. फिर मैंने ये भी देखा कि मैं जिस आबाद उजाड़ राह पर खड़ा था, उसे 'लालू खेत' का नाम दिया गया था. इतना तो मैंने अंदाज़ा किया कि लालू कोई लाल भभूका शक्ल का आदमी होगा. उसने कराची आते ही मज़्कूर जगह खेती की होगी. मुम्किन हो, लालू मियां ने खेत में आलू बोए हों. लेकिन मुझे आसपास न खेत जैसे कोई आसार नज़र आ रहे थे और न ही मुझे कहीं आलू दिखाई दे रहे थे. अलबत्ता मुझे बड़ी भूख लग रही थी जबकि मेरे पास पैसे भी नहीं थे क़ि मैं कुछ मोल ले के खाता. अभी मैं इसी सोच में था कि कैसे पेट के लिये कुछ करूं, तभी बग़ल से पाख़ाने की बदबू आयी. पलट कर देखा तो भंगी दो पाख़ाना से भरे हुए दो खुले कनस्तर बहंगी में लटकाये गुज़र रहा था. इलाही, ये सब क्या है! मुझे भूख के साथ मतली होने लगी. आंखें धूप से चुंधियाई हुई थीं. आगे बढ़ने के लिये मुझे कुछ भी नज़र नहीं आ रहा था या आगे आबादी थी या नहीं, एक धुंधला-सा ख़याल आया कि हसनात चचा के सास-ससुर और साले-सालियां कराची में ही कहीं रह रहे हैं, मगर उनके ठिकाने को कैसे तलाश किया जाए! जबकि सरासर बेवक़ूफ़ी और नादानी

मेरी ही थी कि मैं तो हिंदुस्तान में अपने गांव बांसपारा से पाकिस्तान के रुख़ पर कुछ अंदाज़े से चल पड़ा था, जैसे कराची पहुंच के अपने यहां गांव-गिरावं या हद से हद शह्र गोरखपुर, बनारस, इलाहाबाद और कानपुर में रहने वाले अज़ीज़-रिश्तेदारों के यहां महज़ अटकल से पहुंच जाता! वैसे ही पाकिस्तान के शह्र कराची में रह रहे हसनात चचा के ससुराल वालों के घर तक पहुंच जाऊंगा. ज़ाहिर है, बेवक़ूफ़ी व नादानी के इस अंदाज़े व गुमान की सज़ा मुझे जल्द ही मिल गयी. अब मैं पीछे पलट कर कैंट स्टेशन की तरफ़ हो लिया. राह में किसी राहगीर ने मुझे मुह्ताज भिखारी समझ कर मेरी हथेली पर दो आने रख दिये. ग़नीमत जान के मैंने सिक्का जेब में रख लिया. मगर चलते-चलते अब पांव थकन से आ लगे थे, इसलिये एक नीम के पेड़ तले बैठ गया. सोच रहा था कि अब मैं कहां जाऊं? और जेब में रखे दो आने में क्या खाऊं? आसपास कोई होटल भी नज़र नहीं आ रहा था. तभी सामने से ख़ाकी क़मीज़ और पाजामे में मल्बूस एक शख़्स मेरे पास आया और हमदर्दाना लहजे में मुख़ातिब हुआ, "बेटे कौन हो, तुम कहां से आये हो.....?" मैं बिलख-बिलख कर रो दिया और सब कुछ बता दिया. तब उसने मुहतात लहजे में कहा, "यहां बैठना मना है." ये जगह फ़ौजी बैरक की है (इशारे से) वो देखो, सामने बैरक है.....मैं अगर तुम्हें बैरक में ले जा के किसी फ़ौजी की पनाह में दे दूं तो तुम्हारे साथ वो बदफ़ैली कर सकता है. मैं तुम्हारा भला चाहता हूं. ये कह कर ज़रा देर के लिये बैरक की तरफ़ गया और वहां से थर्मस ले आया. मग में चाय उंडेल कर दी और साथ ही दो तीन टोस्ट खाने को दिये. बा'द इसके उसने पूछा, "तुम ये बताओ, अब कहां जाओगे?" मैंने एक पल ज़ेह्न पर ज़ोर डाल के कहा, "कोयटा जाऊंगा.....वहां मेरे चचा और फूफा रहते हैं. स्टेट बैंक के मुलाज़िम हैं." तब उसने अपनी जेब से दस रुपये निकाल कर दिये और बोला, "बेटा! तुम कैंट स्टेशन चले जाओ.....शाम को कोई गाड़ी कोयटा जाती है.....जाओ ख़ुदा हाफ़िज़!" मैंने उसका शुक्रिया अदा किया और कोयटा के इरादे से कैंट स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर पहुंचा. एक बैंच पर बैठ के इंतिज़ार करने लगा. कुछ देर गुज़री थी कि एक सूटेड-बूटेड अधेड़ उम्र शख़्स मेरे क़रीब आया और मुझ से पूछने लगा, "कहां जाना है?" मैंने जवाब में कहा, "कोयटा....." तो वो बोला कोयटा जाने वाली गाड़ी चार बजे जायेगी और अभी पौने तीन बजे हैं.....इतनी देर यहां बैठ के इंतिज़ार करके थक जाओगे.....चलो मेरे साथ. यहीं क़रीब ही मेरा क्वार्टर है.....वहां चल कर आराम कर लो.....मैं तुम्हें कुछ खिलाऊं पिलाऊंगा भी.....आओ चलो शाबाश."

मैं बिना कुछ सोचे-समझे उसके साथ हो लिया. चंद क़दम तै हुए होंगे कि उसने जाने या अनजाने मुझे मस किया, तो मैं चौंका. न जाने उसका मुझे इस तरह ले जाना इतना अखरा कि मैं एकदम से हाथ छुड़ा के पलट भागा. वापस कैंट स्टेशन आ

के शिद्दत से कोयटा जाने वाली गाड़ी का इंतिज़ार करने लगा. साढ़े चार बजे प्लेटफ़ार्म पर कोयटा की गाड़ी आ लगी. मैंने हमदर्द फ़ौजी के दस रुपये संभालकर रखे और बिना टिकट गाड़ी के एक डिब्बे में बैठ गया. ये सफ़र इब्तिदाई चंद घंटों तक तो ख़ुशगवार रहा, मगर याद नहीं कि किस स्टेशन पर अजब हड़बोंग मची तो गाड़ी में आगे दो इंजिन लगाये गये, फिर भी लगा जैसे गाड़ी घिसट-घिसट कर चल रही हो. दौराने-सफ़र कई सुरंगें आयीं जिनमें अंधेरे को चीरते हुए गाड़ी गुज़री. मगर सितम ये हुआ कि रात के किसी पहर डिब्बे में इतनी भीड़ हुई कि किसी मुसाफ़िर ने ज़बरदस्ती मुझे सीट से उठाया और ख़ुद बैठ गया. अब मैं मैले-कुचैले झिलंगे शलवार-क़मीज़ पहने खुरदुरे और उबड़-खाबड़ चेहरे वाले मुसाफ़िरों के दरमियान फंसा हुआ खड़ा रहा. इतनी अड़चन में था कि न कुछ बोल सकता था, न ही किसी तरह अपना बचाव कर सकता था. जो कुछ हो रहा था, उसे मैं चुपचाप बरदाश्त कर रहा था. अलबत्ता मज्मूई तौर पर मुझे ऐसा लगा कि लूतियों (समलैंगिकों) से कोई ज़गह महफ़ूज़ नहीं थी या एक नये बने हुए मुल्क का नया-नया तास्सुर भी यही था कि जो था. पता नहीं, कब कब डिब्बे से भीड़ छटती गयी तो बिल्कुल ही छट गयी. सवेरा हो रहा था और एक अजीब नाम के स्टेशन पर गाड़ी रुकी थी. 'आगेगुम' तो मैं एक ख़ाली सीट पर नीम दराज़ हो गया, मगर ये बात समझ में नहीं आयी कि दौराने-सफ़र देर-देर तक चैकिंग नहीं हुई और एक बार टिकट चेकर नज़र भी आया, तो मुझे नज़र अंदाज़ करता हुआ निकल गया. कोयटा स्टेशन के आने से पहले किसी स्टेशन पर (नाम याद नहीं) अंगूर बिक रहा था. बेचने वाला दो आने पाव की आवाज़ लगा रहा था. दो आने पाव.....इतने सस्ते अंगूर पर नज़र पड़ते ही मैं बेहद हैरान हुआ. मुझे याद आया कि हिंदुस्तान में हमारे ज़िला बलिया के गांव-गिरावं में कोई बीमार पड़ता तो उसके लिये बनारस और इलाहाबाद से दस रुपये का आध पाव अंगूर मंगवाया जाता.....और मरीज़ को चार दाने ही खिलाये जाते, जिन्हें खा के वो सेहतयाब हो जाता. बरअक्स इसके कोयटा के इलाक़े के क़रीबी स्टेशन पर बिकने वाले दो आने के पाव भर अंगूर को मैं बेतहाशा ख़रीदे बिना नहीं रहा. बेचने वाले ने दो आने काट के बाक़ी नौ रुपये चौदह आने मुझे दे भी दिये. मैं अंगूर हथेली पर रख के बेसब्री से खाने लगा तो डिब्बे के फ़र्श पर बैठा हुआ शायद वो अधेड़ उम्र पठान होगा जो रोटी और ख़ुश्क गोश्त की पोटली खोले अपने तीन बच्चों के साथ खाने लगा तो मुझे भी एक रोटी और गोश्त थमाया. वो कुछ अपनी बोली में बोल भी रहा था फिर भी मैंने उसकी दी हुई रोटी गोश्त मज़े से खाते हुए अल्लाह का शुक्र अदा किया.

गाड़ी कोयटा रेलवे स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर रुकी, तो टिकट चैकिंग के ख़ौफ़ से मैं गाड़ी से प्लेटफ़ार्म की उल्टी तरफ़ उतरा. मुख़ालिफ़ पटरी पर एक मालगाड़ी खड़ी थी. उसके डिब्बे की आड़ ले के मैं बहरहाल स्टेशन की हुदूद से बाहर निकल आया

और सामने से आते एक राहगीर से स्टेट बैंक का पता पूछा. उसने बहुत वाज़ेह ढंग से पता बताया. मैं तेज़-तेज़ क़दमों से चल पड़ा. लगभग ग्यारह बज रहे थे. अभी दोपहर नहीं हुई थी. एक सायादार सड़क से हो के और ठंडी धूप में खिली हुई दो सड़कों को पार करके मैं कोयटा के स्टेट बैंक पहुंचा और गेट पे खड़े हुए आदमी (शायद चौकीदार रहा होगा) से अपने फूफा सय्यद अब्दुल कुद्दूस से मुलाक़ात के लिये कहा. वो एक तरफ़ चला गया और ज़रा ही देर में फूफा बाहर आये, तो मुझे इस तरह अचानक देखकर हैरान हुए, "अरे सद्दन! तुम ने अपने आने की इत्तिला भी नहीं दी और इस हालत में ?" मेरा हाथ थामे वो मुझे स्टेट बैंक की कैंटीन में ले गये. वहां पहले हाथ-मुंह धुलवाया और चाय और केक वग़ैरह मंगवाया. मुझे ज़रा देर बिठा के अंदर गये और जल्द ही वापस आये. मुझे साथ लिया और साइकिल पर बैठा के सिविल अस्पताल और लेटिन रोड के आसपास लहौरी ईंटों की दीवार से गिरी हुई बाउंड्री के एक क्वार्टर में ले गये. हसनात चचा और चची मुझे देख कर और हैरान हुए, बल्कि हैरानी के साथ ही उनके चेहरों पर नागवारी ज़ाहिर हो रही थी. अलबत्ता उनका बेटा जावेद जो उन दिनों दस-बारह साल का होगा, वो मुझे देख के मा'लूम नहीं क्यों ख़ुश हो रहा था. और हसनात चचा की एक साली नन्ही जिन्हें मैंने सुल्तानपुर में देखा था और बाजी कहने लगा था, उन्नीस-बीस बरस की होंगी, बावर्चीख़ाने से बाहर निकल के सेहन में आयीं, तो मैंने उन्हें नन्हीं 'बाज़ी' के (संबोधन) से सलाम किया मगर उन्होंने भी नागवारी से सिर्फ़ सर हिलाया. ख़ुद कुछ बोलने-बतियाने की कोशिश में पता चला कि हसनात चचा के ख़िलाफ़ ग़लत और बेबुन्याद मुक़द्दमे की स्थिति अब्र इतनी गंभीर हो चली थी कि वो ज़मानत पर आरज़ी रिहाई की सूरत में क्वार्टर में रह रहे थे. मगर उनकी निगरानी होती थी. ऐसी परेशानी में मुझे हिंदुस्तान से पाकिस्तान आना ही नहीं चाहिये था. जबकि उनके ख़िलाफ़ बैंक के मुक़द्दमे की इत्तिला मुझे पिछले साल हिंदुस्तान में ही मिली थी. अब्बा ने मारे हमदर्दी में भाई के लिये कराची में मुक़ीम फ़य्याज़अली एडवोकेट (शमीम और अनवर नाम के सोशल नॉवेलों के लेखक) से मुक़द्दमा लड़ने के लिये गोरखपुर के साकिन उनके एक अज़ीज़ से सिफ़ारिश करवायी थी. इसके बावजूद हसनात चचा ने अब्बा के नाम हिंदुस्तान एक पोस्टकार्ड पर मेरे कोयटा पहुंचने की इत्तिला देते हुए ये परेशानी ज़ाहिर की थी कि उनके साथ पेश आ रहे इन संगीन हालात में सद्दन को पाकिस्तान उनके यहां आने से रोकना चाहिये था. पंद्रह दिन बा'द अब्बा का जवाब मौसूल हुआ तो मा'लूम हुआ कि वो छोटे भाई से शर्मिन्दा थे. उन्होंने तो भरसक सद्दन को रोकने की कोशिश की थी, मगर वो माना नहीं, सुनी-अनसुनी करके पाकिस्तान चल दिया. गोया गुत्थी ये खुली कि मैं सद्दन अब्बा का सगा बेटा होते हुए भी उनके छोटे भाई हसनात चचा के मुक़ाबले में क़ाबिले-तरजीह नहीं था. हां, उन्होंने बज़ाहिर पाकिस्तान आने से हल्के लहजे में रोका तो ज़ुरूर था,

मगर दरअस्ल वो अपनी दूसरी बीवी या'नी मेरी सौतेली मां के साथ बेख़ौफ़ व ख़तर गृहस्थी में मुझे ख़तरा समझ रहे थे और किसी तरह मेरी बला टालना चाह रहे थे. अगर वो संजीदगी से मुझे रोकना चाहते तो रोक सकते थे, पर उन्होंने जान कर या अनजाने जिस तरह मुझे पाकिस्तान रवाना किया, वो सरासर लापरवाही और ग़फ़लत ही तो थी. चौदह-पंद्रह साल के लड़के को कम रक़्म के एवज़ एक तरह से ख़ाली जेब और बे-सरो-सामान एक नये बने हुए मुल्क की तरफ़ महज़ धकेलना ही तो था, जबकि कराची और कोयटा में सगे और नीम सगे रिश्तेदारों की सुकूनत का पता भी तो नहीं दिया था. ये और बात कि एक बाप का नापसन्दीदा बेटा किसी तरह कोयटा पहुंच गया और किसी न किसी हाल रहने भी लगा.

कोयटा में रहने के दौरान कई ख़राबियां मेरी इब्तिदाई मुशाहदे में भी आयीं, जो इससे पहले नहीं आयी थीं. मेरे गांव बांसपार की रिश्ते की फूफी का काला-कलूटा मियां बख़्शी फूफा कोयटा के बड़े पोस्ट ऑफ़िस से लगे टेलीफ़ोन वाले ऑफ़िस में ऑपरेटर हुआ करता था. जालसाज़ी, फ़रेब, काइयांपन, चालाकी बल्कि हर क़िस्म की बदमाशी का पुतला था, मगर इतना ज़िंदादिल था कि अपनी इस ख़ूबी में अपनी हर बुराई को ढांप लेता. फ़ोन पर औरतबाज़ी के खेल में अपने क़रीबी दोस्त को भी घसीट लेता. सवेरे 9 बजे से 4 बजे तक टेलीफ़ोन वाले कमरे में अपनी सीट पर बैठा, पता नहीं, कहां-कहां फ़ोन मिलाता था. नंगी-नंगी बातें करता और फ़ोन पर किसी न किसी को पटा लेता. फ़ोन पर औरतबाज़ी के खेल में वो दानिस्ता किसी को भी शामिल कर लेता, बल्कि बख़्शी फूफा के झांसे में आके, अफ़सोस कि मैंने पहली बार जिन्नाह रोड से लगे कोयटा का चकला देखा. इससे पहले मुझे मा'लूम नहीं था कि चकला रंडियों के पेशे और रिहाइश की जगह को कहते हैं. तब मुझे नंगई, गंदगी, उबकाई, गाली, ला'नत और तौहीन के मिलेजुले मंज़र से बड़ी घिन आयी. तीन-चार गलियों की दो तर्फ़ा पिंजरेनुमा तंग कोठरियों में मुंह पर पाउडर पोते हुए औरतें लोहे के छड़ वाली खिड़कियों से झांक रही थीं, जबकि उन्हें ताड़ने वाले बेशतर तमाशबीन होते जो महज़ तफ़रीहन उनकी खिड़कियों के पास जा कर मुआमला का दाम पूछते, तो अक्सर वो अपने दाम तीन-चार रुपये बतातीं. बमुश्किल चार पांच ही गाहक नज़र आये जो सौदा तै होते ही कोठरियों में चले जाते और खिड़कियों के पट बंद हो जाते. मैंने ये भी देखा कि झटपट मुआमला निबटा के गाहक कोठरियों से बाहर निकल आते. सिर्फ़ एक गाहक ऐसा नज़र आया जो अपनी कोठरी से लगभग आधे घंटे के बा'द निकला तो सीना फुलाये मूंछें ऐंठ रहा था और उसके पीछे रंडी उसे शाबाशी देने वाले तास्सुर (मुम्किन हो वो नक़्ली तास्सुर हो) से हाथ नचा रही थी. फिर भी समझ में नहीं आ सका कि अस्ली और नक़्ली तास्सुर के पीछे बात क्या थी ?

दो दिन बा'द ही बख़्शी फूफा मुझे लिये हुए उस चकले की एक गली में एक

रंडी की कोठरी पर खड़े हो के शायद तफ़रीहन मुआमला के लिये दाम पूछा, तो उसने शर्मा के चार रुपये बताये. इस पे बख़्शी फूफा ने बड़ी हिक़ारत से फ़िक़रा फेंका, "शकल तो तेरी चार आने की नहीं.....चली है चार रुपये मांगने !" रंडी एकदम तिलमिला गयी, अपनी तौहीन पर बख़्शी फूफा को उसने बड़ी गंदी गाली दी, "जा हराम के पिल्ले.....अपनी अम्मां को......जा अपनी बहन को....." ये इतना भयानक मन्ज़र था कि उसके बाद बख़्शी फूफा के हमराह कभी उधर का रुख़ करने की हिम्मत नहीं हुई. अलबत्ता कभी-कभी बख़्शी फूफा से सरे-राह मुलाक़ात होती, तो वो ज़बरदस्ती मुझे होटल में चाय पिलाने के बहाने चुग़लख़ोरी शुरू कर देता. उल्टा रवैया ये था कि कुद्दूस फूफा से मिला भी रहता और मौक़े, बेमौक़े उनके ख़िलाफ़ लगाई-बुझाई करता रहता. वो उन पर तरह-तरह के इल्ज़ाम लगाता. उसकी फ़ितरत ही ऐसी थी. नेकनीयती तो उसमें थी ही नहीं. लोगबाग तो रात गये घर वापस आते, जबकि बख़्शी फूफा के कोई चचाज़ाद भाई लेटिन रोड से सीधे बहुत आगे फ़ौजी रिहाइशी एरिया में रहते थे. उनके यहां पहले तो बख़्शी फूफा ही मुझे ले गये, तो उन्होंने मेरी ख़ातिर तवाज़ो' की. इसके बा'द मुझे इस्रार करके बुलाया करते. मैं वहां साइकिल पर चला जाता. साइकिल चलाना मैंने कोयटा ही में सीखा, मगर अभी साइकिल से नीचे उतरने का ढंग नहीं आता था. किसी ऊंची जगह पांव रख कर उतरता था फिर भी गिर पड़ता था. इस पर बख़्शी फूफा के चचाज़ाद भाई एक मिस्ल-मिस्रा' बड़े भौंडे लहजे में पढ़ कर सुनाते, 'गिरते हैं शहसवार ही मैदाने-जंग में.' इस पर मैं फूले न समाता और ख़ुद को शहसवार ही समझने लगता, मगर बख़्शी फूफा के उन चचाज़ाद भाई का अस्ल मन्शा ये ज़ाहिर हुआ कि वो हसनात चचा की साली नन्ही से रिश्ता चाहे रहे थे. इसके लिये उन्होंने मुझे ज़रीआ बनाने की कोशिश की. जब मैंने उनकी ज़बानी कहलवायी बात चची को बतायी, तो वो मुझ पर बहुत बिगड़ीं और उन्होंने बख़्शी फूफा को बहुत बुरा-भला कहा. इसके बावजूद बख़्शी फूफा मत्लब-बरारी में लगे रहे और कभी-कभार मेरा रास्ता रोक के अपनी दानिस्त में अपने चचाज़ाद भाई की बड़ी वकालत कर रहे होते कि अगर हसनात चचा ने अपनी साली से उनकी शादी कर दी, तो उससे बड़ा फ़ाइदा होगा. फ़ौजी से शादी ख़ानदान की ताकत बनेगी और फ़ौजी को मिलने वाली सारी सहूलतें मुफ़्त मयस्सर आएंगी वग़ैरह वग़ैरह. मगर ये सब कुछ इसलिये अकारत गया कि हसनात चचा के घर में बख़्शी फूफा समेत उनके दीगर अज़ीज़ों का आना बिल्कुल बंद कर दिया गया. अलबत्ता मेरी समझ में ये नहीं आ रहा था कि हसनात चचा और चची नन्हीं बाजी की शादी बख़्शी फूफा के फ़ौजी चचाज़ाद भाई से क्यों नहीं करना चाहे रहे थे ? शायद अभी ऐसी नाज़ुक बात समझ में नहीं आ रही थी और समझ में नहीं आ सकती थी. वैसे भी मेरी उम्र ही क्या थी !

कायटा में मेरा जी नहीं लग रहा था. एक तो मेरे साथ कई बार ये घटना होते-

होते भी नहीं हुई कि गिरोही लौंडेबाज़ी के चंगुल में नहीं फंसा. अगर मैं फंस जाता तो मेरे जिस्म के चिथड़े उड़ा दिये जाते. एक बार तो हद हो गयी. मैं पांव में लगे ज़ख़्म की मरहमपट्टी कराने क्रिश्चियन मिशनरी के अस्पताल की बाउंड्री में खड़ा था कि अलिफ़ लैला के सिंदबाद के क़िस्से वाले बूढ़े की याद दिलाने वाला शख़्स अपने हमराह तीन-चार नौउम्र लड़कों को लिये हुए मेरे सामने आ खड़ा हुआ और लगा कुछ यूं तब्लीग़ करने के अंदाज़ में बोलने, "हम अल्लाह का बेटा है.....वो नहीं है जो मरयम वाला है....." एकदम झटके से मेरा हाथ पकड़ के "चल हमारे साथ, तुझे जल्वा दिखाएंगे".....मैंने हाथ छुड़ाना चाहा तो उसने हाथ पर ज़रा दबाव डाल के पहले मेरा हाथ अपने हाथ के साथ ऊपर उठाया और ना'रे के अंदाज़ में मुझ से बुलवाना चाहा, "अल्लाह का बेटा आया.....अल्लाह का बेटा आया." इस पर मैंने जान छुड़ाने के बहाने से एक बार ना'रा लगा दिया और ज़ोर लगा के हाथ छुड़ाया और वहां से भाग खड़ा हुआ. मैं इतना डर गया था कि पीछे कुछ देखे बग़ैर साइकिल संभाली और ये जा वो जा.

दिलो-दिमाग़ की हालत अजीब थी. जबकि मैं अक्सर सण्डेमन लाइब्रेरी में दिन के एक हिस्से के दौरान शे'रो-अदब की किताबें पढ़ता था. और जब लाइब्रेरी से बाहर निकलता तो कुछ देर दिलो-दिमाग़ पर इल्म का गंभीर मगर ख़ुशगवार साया-सा रहता. मगर थोड़ी देर बा'द गलियों और सड़कों की उमूमी छाप पड़ने लगती. एक दिन मा'लूम नहीं, मेरे जी में क्या आयी कि मैं कोयटा के उत्तर में फ़ौजी अफ़सरों के रिहाइशी एरिया में मज़्हर चचा की रिहाइश पर जा पहुंचा. मज़्हर चचा फ़ौज में जमादार थे. वो मेरे गांव बांसपार के अलकरीम दादा के बड़े बेटे थे जबकि उनसे छोटे बेटे अज़्हर चचा बड़े भाई मज़्हर चचा के क़रीब ही कहीं रह रहे थे. मज़्हर चचा मेरी आमद पर ख़ुश नहीं थे. उनकी बीवी जो चेहरे से नकचढ़ी लग रही थीं, उन्होंने भी बुरा-सा मुंह बनाया. फिर भी मुझे एक प्याली चाय के साथ दो तीन टोस्ट खाने को दिये गये. शायद मैंने खाया पिया कम, ज़हरमार ज़ियादः किया. दो तीन टोस्ट से मेरा कुछ भला नहीं हुआ. इसके बा'द तो मुझे चाहिये था कि मैं वहां का रुख़ न करता, लेकिन दो तीन बार मैं फिर वहां गया तो उसका कारण सिर्फ़ ये था कि मज़्हर चचा की नकचढ़ी बीवी का ऊपरी होंठ मेरी अम्मां के होंठ से मिलता-जुलता था. उसको ज़रा देखते हुए मन ही मन अम्मां की याद ताज़ा हो जाती. मगर एक दिन बात कुछ उल्टी हो गयी. उन्होंने मुझे डांटते हुए पूछ ही लिया, "बदमास आवारा तू इधर का टकुर-टकुर देख रहा है ?" मैं एकदम संभल के बोला, "नहीं चची कुछ नहीं.....आपको देखते हुए अम्मां याद आ जाती है."....इस पर वो बज़ाहिर चुप हो गयीं, मगर नागवारी का तास्सुर फिर भी बाक़ी रहा. अलबत्ता ये भी मा'लूम हुआ कि मज़्हर चचा

अपने छोटे भाई अज़्हर चचा को बिल्कुल गवारा नहीं करते और अपने यहां उन्हें आने से रोकते हैं. इसका सबब मेरी समझ में तो नहीं आया. कई दिन बा'द बख़्शी फूफा की ज़ुबानी पता चला कि मज़्हर चचा के लड़कों ने अज़्हर चचा के यहां जा के उनको बहुत मारा पीटा. ज़ाहिर है, इसकी शह मज़्हर चचा ने दी थी.

कोयटा में क़ियाम के आख़िरी दिनों में लेटिन रोड से गुज़र रहा था कि मेरी नज़र एक क़ब्रिस्तान पर पड़ी. उसकी बाउंड्री तो बहुत छोटी थी, क़ब्रें भी ज़ियादः नज़र नहीं आयीं; मगर एक क़ब्र के पास मैं ठिठक के रह गया. उस पर एक बुत लगा हुआ था जिसका सर इंसानी औरत का था जबकि बाक़ी धड़ किसी अबूझ दरिंदे का था. एक पत्थर की तख़्ती पर कोई इबारत खुदी हुई थी जिसे पढ़ने की कोशिश के बावजूद मैं पढ़ नहीं सका. बाउंड्री से बाहर आ के मैंने मुख़्तलिफ़ मिलने वालों से मा'लूमात की तो पता कि वो एक मेम का बुत था. उसके बारे में मुझे ये बताया गया कि अंग्रेज़ों की अमलदारी के दौरान अक्सर आधी रात को चिलतन पहाड़ या कोहे-मुर्दार की सम्त से मम नामी की बला शहर में आती थी और किसी न किसी नौजवान को उठा ले जाती थी. इस तरह जब बहुत से नौजवान उठाये जा चुके, तो एक फ़ौजी जवान ने मम का राज़ जानने के लिये ये रिस्क लिया कि वो आधी रात को किसी तैशुदा जगह खड़ा हो गया, जबकि एक हाथ में उसने एक दस्ता काग़ज़ एहतियात से थामे रखा. इत्तिफ़ाक़ से वो बला आयी और उस जगह से उस नौजवान को उठा ले गयी. कहा जाता है कि वो रास्ते भर काग़ज़ फाड़-फाड़ कर नीचे ज़मीन पर गिराता रहा ताकि बाद में पीछा करने वालों को ज़मीन पर गिरे हुए काग़ज़ी टुकड़ों से मम नामी बला के ठिकाने तक पहुंचने की राह मिल जाये. दूसरे दिन ऐसा ही हुआ कि पीछा करने वालों ने गिरे हुए काग़ज़ी टुकड़ों को देख-देख के मम के ठिकाने का सुराग़ लगा लिया. मा'लूम ये हुआ कि ख़ुश्क पहाड़ की एक खोह में अनगिनत इंसानी पिंजर पड़े हुए थे और पिछले दिन ले जाये गये नौजवान को वो बला बड़े मज़े से चट कर रही थी. आसार से ये अंदाज़ा हुआ कि वो अपने शिकार से पहले जिंस (रति क्रिया) करती थी. फिर उसके जिस्म का पूरा ख़ून चूस-चूस के उसे मुर्दा कर देती थी. उस नौजवान का ख़ून चूसने के दौरान ही मम को हलाक कर दिया गया. और बा'द में उसे उस क़ब्रिस्तान में दफ़्न करके उसकी क़ब्र पर उसका बुत लगा दिया गया.

मम की क़ब्र देखने के दस-ग्यारह दिन बा'द मुझे हंगामी सूरते-हाल में कोयटा से कराची आना पड़ा. (जारी) ❑

(तश्कील-45, अगस्त 03, कराची)

8/6, 2-जे, नाज़िमाबाद, कराची-74600 (पाकिस्तान)

शरीफ़ज़ादा-3

—हबीब हक़

हबीब हक़ बुन्यादी तौर पर शाइर हैं. केमिस्ट्री के प्रोफ़ेसर रहे. रिटायरमेंट के बा'द अब कोलकाता में मुक़ीम हैं. इस तवील यादनामे की दो क़िस्तें शेष-28 व 29 में शाए' की गयी थीं, बक़िया हिस्सा यहां पेश किया जा रहा है.

शाम हो रही थी. हल्की-हल्की बारिश शुरू हो गयी थी. तक़रीबन तमाम दिन मौसिमे-ख़ज़ां की धुंधली-सी रुपहली रौशनी बरक़रार रही थी. बूढ़े, बच्चे, औरतें, मर्द पार्कों में, बाज़ारों में, गलियों में घूम रहे थे. आशिक़ों की चांदी थी. अब वक़्त आ गया था कि ढीलेढ़ाले हल्के कपड़े उतार कर दबीज़ पोशाक पहन ली जाय. टर्टल नेक स्वेटर (Turtle Neck Sweater) और बदन से चिपकी हुई जीन्स पहन कर लड़कियों का जोबन और निखर आता था. और शरीफ़ हसन खचाखच भरे स्टोरों में उन शोला-सिफ़तों से नज़दीक रहने की कोशिश किया करते थे. शरीफ़ हसन फ़र्श से उठे, बोले, "मैं आपको हिंदुस्तानी खाना खिलाऊंगा, लेकिन एक शर्त है."

"कौन-सी शर्त ?"

"आपको थोड़ी-सी मीठी सुर्ख़ वाइन पीनी पड़ेगी." शरीफ़ हसन ने हॉलीवुड के अदाकारों की तरह आंखें झपकायीं.

"चलिये मन्ज़ूर. हुक्मे-हाकिम..."

शरीफ़ हसन किचन के पास जाकर काम में लग गये. हबीब मियां ने हाथ बंटाना चाहा. दोनों सेवन-अप पीते जा रहे थे. गुफ़्तगू जारी थी.

"भाई, हम ये अक्सर भूल जाते हैं कि तहज़ीब अपना काम अपने अंदाज़ में और कई ए'तिबार से बेतर्तीबी से करती है. हम दानिश्वर ये चाहते हैं कि 'अलिफ़' के बा'द 'बे' आये. तहज़ीब अक्सर अलिफ़ के बा'द 'सीन' ले आती है. और तर्तीब उसी वक़्त दी जाती है जब कोई साहिबे-नज़र चेतावनी देता है जैसे इमाम ग़ज़ाली, जैसे वॉल्टेयर, जैसे सर सय्यद !"

"मैं आपको अपनी दास्तान सुनाऊं. जानते हैं, मैरी जो के यहां क्या हुआ? हस्बे-मा'मूल उसने मुझे गले लगाया और जब मैंने मुड़ कर देखा तो ड्राइंग रूम के दूसरे सिरे पर एक साहिबज़ादी मुझे बग़ौर देख रही हैं. मुझे थोड़ा ता'ज्जुब हुआ. जानते हैं आप, इश्क़ व आशिक़ी के ज़माने लद चले हैं. फिर भी भरा हुआ साग़र देख कर हर शराबी बेक़रार हो ही जाता है. मैंने ज़रा ग़ौर से देखा, तो मुझे याद आया कि ये वही साहिबज़ादी हैं जो एक बार मुझ से बहुत क़रीब हुईं, लेकिन फिर किसी और के साथ शादी के मन्सूबे बांधने लगी थीं. इस मुआमले को कई साल गुज़र चुके हैं. मैं उनके पास गया. उन्होंने लॉ-नैक का ड्रेस पहन रखा था. बाल ज़रा छोटे करा लिये थे. मैंने कहा, "जॉन माई डियर, क्या हालचाल हैं?"

"कैसे हो शरीफ़ तुम?"

"तुम्हारी चाह में अब तक तड़प रहा हूं."

जॉन हंसी, "मेरा फ़ोन नंबर तुम्हारे पास नहीं है क्या?"

"फ़ोन तो चिंगारी को और हवा देगा."

वो फिर हंसी, "तो क्या मेरा अपार्टमेंट नंबर तुम्हें याद नहीं है क्या?"

"तुम्हारे वो सूरमा कहां हैं? अगर उन्होंने मुझे तुम्हारी तरफ़ रुख़ करते देख लिया तो मेरे हाथ-पांव का क्या होगा?"

"कौन सूरमा?"

"अरे भई, वही मेरे पुराने रक़ीब, तुम्हारे शौहर-नामदार लेस्टर और कौन?"

"वो...अच्छा वो. हमारी तलाक़ तो बहुत पहले हो गयी."

"और तुम, माई डियर?"

"मैं? हाय हाय! स्पींस्टर के साफ़-सुथरे बिस्तर पर रातों को लोटा करती हूं."

"कोई भी नहीं जो थपक कर सुला दे?"

"हाय, कोई भी नहीं मेरी जान...बस मेरी एक किताब प्रेस में जाने वाली है जिसने मुझे ज़िंदा रखा है."

"शक्ल व सूरत, चाल-ढाल, रखरखाव से लग रहा था कि वो न सिर्फ़ ज़िंदा है, बल्कि तहलका मचाने की हद तक ज़िंदगी से ख़ुशियां हासिल कर सकती है. तै ये पाया कि जुम्ए की शब मैं उसके यहां जाऊंगा. मुनासिब कपड़े पहन कर, ख़ुशबुओं से लैस होकर थैले में फूलों का गुलदस्ता और व्हाइट वाइन की बोतल लेकर मैं उसके अपार्टमेंट पहुंचूंगा. दरवाज़ा खुलेगा. वो ऐसी पोशाक में होगी कि सब कुछ नज़र आते हुए कुछ नज़र न आये. हम दोनों एक साथ कहेंगे: 'हाई!' मैं फूल पेश करूंगा. जॉन मुझ से लिपट जायेगी. मैं उसके मुंह पर अपने होंट चिपकाऊंगा, एक दूसरे की कमर में हाथ डाले हम सोफ़े तक आएंगे. मैं सावधान उंगलियों से उसे छुऊंगा. वो मेरे होंटों

पर उंगलियां फेरेगी. वाइन की बोतल खुलेगी. जल्द ही खाना खाया जायेगा. मेरी पसंद की सब चीज़ें मौजूद हैं. फिर कॉफ़ी, और फिर वो कोक में रम डाल कर लायेगी. जॉन की उम्र आ रही है, लेकिन वो अब तक भूकी शेरनी है. साल डेढ़ साल पर उसका एक कामयाब नॉवेल आ जाता है. तीन-चार लाख डॉलर बैंक में जमा हो जाते हैं. किसी का ख़ौफ़ नहीं. कोई फ़िक्र नहीं. ऊपर वाला मेहरबान-सा-मेहरबान. और मैं, जब मैं तनहा होता हूं तो ऊपर वाले से रहम और बख़्शिश की दुआएं करता हूं. क्या मुझे बख़्श दिया जायेगा ?''

''आप शरीफ़ भाई, ज़रा ख़ुद को मज़्बूत बना लें. अल्लाह बेरहम नहीं है. वो आपकी सुनेगा. आपका वो ख़ालिक़ है, वो सब को बख़्श देगा.''

''मुझे वालिद साहिब याद आते हैं. आरामकुर्सी पर तक़रीबन लेटे हुए हाथों में मौलवी बद्र आलम मेरठी का 'तर्जुमानुल-सिन'. काश वो मुझे रोक देते !''

''ख़ुदा की मर्ज़ी और आपकी ख़्वाहिश आपको यहां लायी. शरीफ़ भाई, आप हुस्न व बदसूरती, अच्छा-बुराई से यहां आगाह हुए हैं, हिंदुस्तान में रह कर न थोड़ा ही होते.''

दोनों दोस्त फ़िक्र में डूब गये. दोनों ने महसूस किया कि कोई उनके दरमियान आ कर उन्हें दिलासे दे रहा है.

''शरीफ़ भाई, आप शादी क्यों नहीं कर लेते ?''

''शादी ? हां. देखिये जनाब, मैं 1935 में पैदा हुआ. आज 1991 है. 64 साल की उम्र हो गयी. क्या कोई हिंदुस्तानी या पाकिस्तानी औरत मेरी छाती पर मूंग दलने के लिये आमादा हो सकती है ? फिर मेरी आदतों पर नज़र डालें, मैं ठहरा, आज़ाद, आवारा, ख़ुद में गुम, दूसरों की फ़िक्र ज़रा कम करने वाला. शादी ख़ाविंद, बीवी के लिये जहन्नुम बन कर रह जायेगी. और फिर जॉन जैसी औरतों का क्या होगा जो मुझ जैसे को कामचलाऊ ख़ाविंद मानती हैं ? दुन्या की बुराइयों ने मुझे घेर रखा है. लेकिन मैं चोरी नहीं करता, झूट नहीं बोलता, अमानत में ख़ियानत नहीं करता. दूसरों की बीवियों पर गाहे-गाहे नज़र डाल लिया करता हूं. लेकिन उसी वक़्त जब वो भी मेरी तरफ़ माइल हों. मैंने जहां तक हुआ, किसी को नुक़्सान नहीं पहुंचाया. क्या मेरी अच्छाइयां मुझे संभाल न लेंगी ?''

''शरीफ़ भाई, आप हसन-बिन-सब्बाह जैसे तो नहीं. वो कहा करता था कि मेरा ख़ुदा मुझ से वाक़िफ़ है और मुझ पर मेह्रबान है.''

''क्या आप समझते हैं मेरे भाई कि मैं उस कोह के क़दीम शैख़ की मानिंद हूं ?''

''ख़ुदा ना करे !''

दोनों ने डट कर खाना खाया.

इश्क़ की इक जस्त ने
तै कर दिया क़िस्सा तमाम

"मुझे अपने इश्क़ की दास्तान हर्फ़-हर्फ़ याद है. मैं उसे भूल नहीं सकता और न भूलना चाहता हूं. उस इश्क़ ने न तो मुझे मज्नूं बनाया, न फ़र्हाद, न रोम्यो, न हेमलेट. उस इश्क़ ने शायद मुझे बेहतर इंसान बनना सिखाया. मुझे बताया कि हिज्र और ग़म के सिवा इश्क़ एक लुत्फ़ और मसर्रत अता करता है. हम क्योंकर जानते हैं कि हमारी हस्ती क्या है ? और क्योंकर हम यक़ीनी तौर पर उसके सहारे सआदत की मंज़िल की जानिब बढ़ सकते हैं और उस क़ुव्वत के क़रीब हो सकते हैं जो सब हस्तियों की तख़्लीक़ करती है. जो ख़ालिक़े-मुत्लक़ है. वो मख़्लूक़ से जुदा है, लेकिन अपने क़रीब आने देता है. हस्तियां उस क़ुव्वते-बेपनाह में ज़म नहीं हो सकतीं. उन्हें पाश-पाश होकर अपने से अलग होना पड़ेगा. उसको हबीबमियां साहिब, हम चाहे किसी नाम से पुकारें, लेकिन वो हम जैसा नहीं. सय्याल (बहने वाली) क़िस्म की शै है (शै कहना भी दुरुस्त नहीं) जो तमाम हस्तियों को उनके मख़्सूस काम में लगा देखता है. न तो उन पर ज़बरदस्ती करता है, न हाथ पकड़ कर सीधी राह पर लगाता है."

"उस इश्क़ ने मुझे ये सिखाया कि मैं उस राह पर चलूं कि सआदत की तरक़्क़ी तक पहुंच कर दोस्त या आक़ा या रहमानुर्रहीम की क़ुर्बत (सामिप्य) हासिल करूं. राह सख़्त दुश्वार है. मैं बार-बार भटक जाता हूं, लेकिन ये इश्क़ मुझे राह पर ले आता है. शायद मौत के वक़्त मुझे पता चलेगा कि इस राह में कहां तक गया. इसका तिलिस्म हमेशा से बरक़रार है और हमेशा बरक़रार रहेगा. दरअस्ल इसके सिलसिले में वक़्त की पाबंदी लगाना फ़ज़ूल है. क्या हम टूटी हुई चिंगारियां हैं ? शो'ला ज़ुरूर रौशन है, लेकिन हम उस शो'ले से टूट कर नहीं आये हैं. इस शो'ले ने हमें जान ज़ुरूर अता की है, लेकिन वो शो'ला ख़ैरे-मुकम्मल और हुस्ने-मुकम्मल है जो हम नहीं हैं. हम इश्क़ के सहारे उस तक पहुंचना चाहते हैं, लेकिन जानते हैं कि न तो हम क़तरा हैं और न वो दजला. इश्क़ हमें इस बात से आगाह करता है. लेकिन आप जानें ये सफ़र ही हमें सब जानदारों से ऊंचा दरजा देता है."

"हुआ यूं था. 1969 का साल था. हाय क्या ज़माने थे ! सारा मुल्क वियतनाम की आग से जल रहा था. ऐसा लग रहा था कि दूसरा अमेरिकी इंक़िलाब आने को है या आ चुका है. मैं कोई तीन साल पहले शिकागो से न्यूयार्क आ गया था. और अगर इस सुलगती हुई आग से नज़रें हटा लें तो बड़े मज़े की ज़िंदगी गुज़ार रहा था. रेंडम हाउस वाले ग्रामर पर मेरी गिरिफ़्त से वाक़िफ़ हो गये थे. मैरी जो ऐन ने मुझे अपने साये में ले लिया था. हर कोई जान गया था कि अमेरिकन हुकूमत सरासर ग़लत थी. जॉन केनेडी का बेरहमाना क़त्ल सब को याद था. और फिर शातिर जॉन्सन सद्र हुआ

था और उसके बा'द शातिरतर निक्सन. मैं इन सारी बातों से ग़मज़दा ज़रूर था, लेकिन हैरतअंगेज़ तौर पर ज़िंदा था और ज़िंदगी के मज़े लूट रहा था. न्यूयार्क अजब शहर है. मैं उस दुन्या से वाबस्ता था जो किताबें शाए' करती है और अमेरिकी ज़ेह्न पर अपना ख़ास असर डालती है. अपनी निजी सोच के इलावा मैं उस निज़ाम से जोंक की तरह चिमटा हुआ था. अब भी हूं.''

''एक दिन की बात है. सितम्बर का दूसरा हफ़्ता था. छुट्टियां मना कर लोग लौट रहे थे. मैं अपने कमरे में बैठा काम में मसरूफ़ था. मेरा कमरा लम्बूतरा-सा है. दीवार से लगी हुई एक पतली-सी मेज़ है जो इस सिरे से दूसरे सिरे तक फैली हुई है. शेल्फ़ हैं जिनमें काग़ज़ात, किताबें, कॉफ़ी की प्यालियां वग़ैरह भरी रहती हैं. कमरे में मेरी कुर्सी के इलावा दो और कुर्सियां हैं. मैं एक नॉवेल की ग्रामर की ग़लतियों को सुधार रहा था, लेकिन तबीअत में बेचैनी थी. अचानक किसी ने दरवाज़े पर दस्तक दी. बारह बजने वाले थे. कौन हो सकता है ? मैंने ख़ुद से पूछा. मैरी जो तो शिकागो गयी हुई थी. मैंने ज़रा कठोर, लेकिन धीरे से कहा, ''प्लीज़ !'' दरवाज़ा धीरे से खुला. एक छरहरे बदन की, क़द की ज़रा ऊंची, हल्के बादामी रंग के सलेक्स और फूलदार शर्ट में, कारोबारी पंप जूते, बाल तरशे हुए, कानों में सोने की बालियां, जामुनी रंग की लिपस्टिक, बाएं हाथ में घड़ी, दाएं में ख़ालिस हिंदुस्तानी मोटा-सा कंगन, ज़रा इठलाती, ज़रा लजाती लेकिन पूरी ठसके से दाख़िल हुई, ''मिस्टर हसन ?''

''मैंने शिकारी की नज़रों से उसे देखा, लेकिन शिकार होने की भी ख़्वाहिश मेरे अंदर कहीं जागी, जी आपका ख़ादिम.''

उसने आबदार दांतों की नुमाइश की, हल्के से हंसी, ''जी मुझे कहते हैं मीरासेन.''

''मीराजी की मीरासेन ? लोग बताते हैं कि मीराजी वाली ख़ासी सांवली थी और उसने शाइर (मीराजी) की तरफ़ देखा तक नहीं.''

''कौन मीराजी ?''

मैं कुर्सी छोड़ कर खड़ा हो गया था. अब मैं हंसा. और सन्देल्वी अलीगढ़ी लहजे में बोला, ''फिर बताएंगे यार !''

''लफ़्ज़ यार ने शायद उसे ख़ुश किया. वो ज़रा क़रीब आयी तो उसकी ख़ुशबू मेरे नथुनों से टकरायी. कई एक महबूबाएं याद आ गयीं. अपने निस्बतन तवील अमेरिकी क़ियाम में मैं किसी भी हिंदुस्तानी शो'ला-ज्वाला के क़रीब न हुआ था. मैंने कुर्सी की जानिब इशारा किया. और वो धम्म से यूं बैठी जैसे बहुत थक गयी हो. मैं महसूस कर चुका था कि अगर हमबिस्तर हुए तो दोनों यकजान हो जाएंगे.''

''शरीफ़ भाई, आपका ज़ेह्न फ़ौरन जुफ़्ती (संभोग) की जानिब गया. कमाल है भई.''

"हा हा हू हू! जुफ़्ती? याद रखें मेरी उमंग उस वक़्त सारे दर्दों को तोड़ रही थी. मैंने फ़ौरन महसूस किया कि इस में हिचक क़तई न थी. कुर्सी पर एक अंदाज़ से बैठी. एक टांग को दूसरी पर यूं रखा कि जांघ का हिस्सा नुमायां हो जाए. शिकारी, मेरे भाई हबीब मियां साहिब, अगर शिकार न होता तो क्या मौलवी ज़बीहुल्लाह सन्दैल्वी हो जाता? बेचारे मौलवी साहिब फ़िरंगी महल के तालीम-याफ़्ता थे जहां 'हमा ओस्त' और 'हमा अज़ अस्त' के फ़र्क़ पर दफ़्तर के दफ़्तर लिखे गये हैं. बस मीरा ने हाथ नहीं मिलाया था, दूध-शकर होने में एक यही कमी रह गयी थी. (हिंदुस्तानी है, राह पर आ जाएगी) नाक सीधी खड़ी थी, नथुने फड़क रहे थे. मैं कोई मुसव्विर या संगतराश नहीं हूं, लेकिन चंद मिनट के अंदर मैंने महसूस किया कि दिल की सपाट दीवार पर मुझे उसकी तस्वीर बनानी होगी. आप जानते हैं मेरे भाई. मैं ख़ूबसूरत रहा हूं. नाक-नक़्शे दुरुस्त, बाल ज़रा भूरे, क़द ऊंचा. औरतें जाने-अनजाने तौर पर मेरी जानिब माइल (आकर्षित) होती रही हैं. लेकिन यहां तो दो ही मिनट बाद मैं महसूस कर रहा था कि मैं कालाहांडी रेगिस्तान का छिपकलियां खाने वाला बाशिंदा हूं. मुझे मा'लूम नहीं था कि सर-धड़ से किसी के क़दमों पर गिर जाना यूं किसी को बदल देता है."

"मीरा ने मुझे ठहर-ठहर कर, अदाएं दिखा कर, लुभा कर, कुछ शर्मा कर बताया कि वो एल.ए. से आई थी. एल.ए. तो आप समझ रहे हैं ना?"

मैं ज़रा झुंझलाया, "जी हां...लॉस एंजिल्स...शायद कैलिफ़ोर्निया में है."

"वो अब की बार खिलखिला कर हंसी, "मिस्टर हसन, आप दिलचस्प इंसान हैं."

"मुझे आप शरीफ़ कहें, यूं मेरा पूरा नाम शरीफ़ उल हसन है."

"जी, मुझे मा'लूम है...यहां लोगों ने बताया आप से मिल लूं. आपकी ता'रीफ़ें सुनीं. शायद आपसे काम भी पड़े."

"काम? कौन-सा काम?" मैंने मा'नीख़ेज़ (अर्थपूर्ण) लहजे में कहा.

"वो टाल गयी. फिर उसने मुझे बताया कि उसने यूनिवर्सिटी ऑफ़ सदर्न कैलिफ़ोर्निया (University of Southern California) से आर्ट डिज़ाइन में डिग्री हासिल की थी. कुछ दिन एल.ए. में काम करने के बा'द न्यूयार्क की कशिश ने उसे हमारी फ़र्म में काम दिला दिया. अब वो इस गुंजान बस्ती में अकेली थी."

"ऐसा है मिस्टर शरीफ..."

"सिर्फ़ शरीफ़."

"वो मेरी जानिब इतनी झुकी कि उसकी सांस मेरी ऊपर से नीचे होती हुई सांस से जा टकरायी. ऐसा है शरीफ़ कि अभी तो मैं वाई. डब्लू. सी. ए. में मुक़ीम हूं. मुझे शाम तक एक अपार्टमेंट मिल जाएगा (मेरे अपार्टमेंट आ जाओ, मेरे दिल ने कहा)

क्या आप मेरी मदद कर सकेंगे कि मेरा सामान जो वाई. डब्लू. में पड़ा है, यहां आ जाए ?''

''नेकी और पूछ पूछ.'' मैंने यूं जवाब दिया जैसे मुझे इल्हाम हुआ हो. तै ये पाया कि शाम के पांच बजे मैं उसे ले कर वाई.डब्लू. जाऊंगा और वहां से उसका सामान उसके अपार्टमेंट आ जाएगा. खाना आप कहां खाएंगी ?''

''बाज़ार से कुछ ले लूंगी.''

''मेरे साथ ही खाना खा लें.''

''आज नहीं, आज मैं बहुत थकी हुई हूं.''

''मैं एक मिनी ट्रक किराये पर लेकर वाई. हॉस्टल गया. उसके सामान में तीन बॉक्स थे. उन्हें लाद कर हम एक स्टोर के पास रुके. उसने चीज़ें खरीदीं.'' मैंने पूछा : ''आपके लिये चिकन ले लूं. ?''

''मेहरबानी होगी. मैंने सीरियन ब्रेड ले ली है. मैं ये चिकन हमेशा सीरियन ब्रेड के साथ खाती हूं.''

''आप पीती क्या हैं ?''

वो खिलखिला कर हंसी, ''ना बाबा, मैं शराब न पीऊंगी. मेरे लिये तो कोक ही हर मरज़ का इलाज है.''

''दिल के मरज़ का भी ?''

''वो फिर हंसी—दिल विल का हाल तो मैं जानती नहीं. हां, और ऑरेंज जूस भी चलता है.''

''मैंने उसका सामान उसके एक कमरे के अपार्टमेंट में पहुंचा दिया. चादरें, कम्बल, तौलिये वग़ैरह उसने ख़रीद लिये थे.''

''कल आपसे मुलाक़ात होगी. मैं अपना मकान तो सजा लूं !''

''कल शाम आपको मेरे साथ खाने पर चलना है.''

''मैं क्या बताऊं हबीब मियां साहिब, अब तक मैं उसे एक हमबिस्तर के तौर पर देख रहा था, लेकिन जब मैं उससे रुख़सत हुआ, तो मुझे लगा कि यकबयक वो चोला बदल कर कुछ ऐसी चीज़ हो गयी है जो मेरी नस-नस में एक क़िस्म का दर्दभरा सुरूर घोल रही है. पता नहीं दूसरे आशिक़ अपनी महबूबाओं के बारे में अव्वल-अव्वल क्या सोचते हैं, लेकिन मैंने अव्वल-अव्वल उसे जिन्सी ख़्वाहिश (यौन आकांक्षा) पूरी करने का ज़रीआ जाना, फिर अपनी हस्ती को उसमें ज़म कर देने की अपनी तमन्ना को पहचाना. लेकिन मैं ये ज़रूर कहूं कि मेरी पहली और अहमतरीन ख़्वाहिश ये थी कि उसे हमबिस्तर बनाऊं. नहीं मालूम, आप इसे महज़ नीच जज़्बा कहेंगे या कुछ और...''

''इश्क़ के बहुतेरे रूप हैं शरीफ़ भाई.''

"सच कहा आपने. इश्क़ ग़ालिबन आग पानी का हल (मेल) है. सितारों का ज़मीन पर उतरना और सितारों तक पहुंचने की ख़्वाहिश है..."

"आप शरीफ़ भाई नफ़्स पर कंट्रोल करने पर ज़ियादः विश्वास नहीं रखते."

"छोड़िये इन फ़ज़ूल बातों को. ज़ुरूरी बातों पर ज़ोर दें. मीरा दूसरे दिन बिल्कुल न दिखाई दी. मैंने खाने से पहले उसे तलाश भी किया, लेकिन बेकार. चार बजे के क़रीब उसका फ़ोन आया—"शरीफ़ साहब, आप आ रहे हैं ना ?"

"जी हां." मेरा दिल बल्लियों उछल रहा था.

"किस वक़्त तक आ सकेंगे ?"

"यही कोई छह बजे या जब आप कहें."

"नहीं, छह बजे बिल्कुल ठीक है. बाय-बाय."

"मैं छह से कुछ पहले ही उसके अपार्टमेंट पहुंचा, तो सारे घर को ख़ुशबू से महका हुआ पाया और उस अजीब पुरअस्रार ख़ुशबू से भी जो औरतों से मख़्सूस होती है.

"आप तो ज़रा-सी जगह में बिल्कुल सैटल हो गयीं, ख़ूब !"

"जब कैलिफ़ोर्निया छूटा तो अब तो इसी गुंजान शहर में रहना है."

"चलें, हम दोनों मिल कर कैलिफ़ोर्निया चल कर रहें."

"आप जाएं. मुझे क्यों अपने कोच के साथ बांधते हैं ?" वो मुस्करायी.

"अकेले जाने में क्या मज़ा ? अच्छा चलिये. अब आप तैयार हो जाइये. खाने को चलें."

"सुनिये, अगर आप बुरा न मानें.....तो बाहर जाकर हेम बर्गर वग़ैरह कुछ ले आएं. मैं आपको घर ही में मज़ेदार चीज़ खिलाऊंगी."

"मैं तो एक और भी मीठी चीज़ की तवक़्क़ो' कर रहा हूं."

"कौन-सी चीज़ ?" वो ज़रा होंट सिकोड़ कर पेशानी को और भी जगमगा कर मुस्करायी.

"आप ख़ुद अंदाज़ा कर लें."

"मीरा ने अपनी नाक छुई, जैसे वो उसे बलंद कर रही हो—आप समझ लें मि. शरीफ़, मैं कोई अमेरिकी लड़की नहीं हूं."

"नहीं जनाब, आप ख़ालिस हिंदुस्तानी, ख़ालिस बंगाली कन्या हैं. आप आस्मान के तारों जैसी हैं, जिन्हें बस दूर से देखा जा सकता है. अगर मैं ये कहूं कि आप की मीठी ज़बान मुझे दूसरी तमाम मज़ेदार चीज़ों से बेहतर लगती है, तो आप क्या कहेंगी ?"

"कुछ भी नहीं. सिवाय इसके कि लोग आस्मान से तारे भी तोड़ लाते हैं."

"वो दिन हवा हुए. रूसी लोग स्पुतनिक के ज़रीए ख़ला में गये. ख़ला तो था

लेकिन ख़ुदा को न पाया या'नी इतनी ऊँचाई से भी सितारे उतने ही दूर रहे.''

''आप ग़ौर नहीं करते मिस्टर शरीफ़, हम सिर्फ़ एक दिन पहले मिले हैं. हम एक दूसरे के बारे में कुछ भी नहीं जानते सिवाय इसके कि हम दोनों ग़ैर शादीशुदा हैं. यूं भी सड़क पर गिरी-पड़ी औरतों में से नहीं हूं, लेकिन आपके अंदर एक ऐसी कशिश महसूस कर रही हूं कि मेरा दिल कहता है कि आपके मुतअल्लिक़ और जानकारी हासिल करूं. लेकिन आप मुझ से बहुत ज़ियादः anticipate न करें.''

''जनाब, मैं एक सीधा-सादा इंसान हूं. शिकवे-शिकायत का आदी नहीं. सुकून की ज़िंदगी गुज़ारता हूं. हुस्न का नज़्ज़ारा दूर से किया करता हूं. लेकिन कोई आ कर मेरे बाग़ में फूल खिला दे तो उसकी ख़ातिर जान भी दे सकता हूं.....और क्या बताऊं ?

''आप हवस की दुन्या से निकल कर मुहब्बत की दुन्या में क़दम रख कर देखें, निहाल हो जाएंगे.''

''मैं क़रीब के मेकडोनाल्ड से बहुत सारा खाने का सामान ले आया. मीरा ने मलाईदार खीर बनायी जिसमें बादाम, काजू, किशमिश वग़ैरह ख़ूब डाले गए थे. खा-पीकर हम सोफ़े पर पास ही पास बैठे. इधर-उधर की बातें होती रहीं.''

''शरीफ़ भाई, आप उस हसीन लम्हे का इंतिज़ार करते रहे जब आग़ोश-वा होंगे, लेकिन सेक्स की चाहत में कुछ और भी शामिल था क्या ?''

''मैं हबीब मियां साहब, बस इंतिज़ार करता रहा. मीरा मुझे अपने काम के बारे में बता रही थी. मुझे शराब की ख़्वाहिश हुई. एक अजीब-सी ख़्वाहिश थी जो बार-बार मुझे बेक़रार कर रही थी. मुझे याद नहीं कि हम क्या-क्या बातें करते रहे. हां मीरा मुझे निहाल-निहाल-सी ज़रूर लगी.''

''शरीफ़ भाई, आप कैसे माज़िंदरानी हैं ? आपने तलवार क्यों न सूंत ली ?''

''भाई मियां साहिब ! हिंदुस्तानी आबो-हवा ने हमारे ख़ून को सर्द कर दिया है. अपनी नालायक़ी पर मुझे आठ-आठ आंसू बहाना चाहिये था. जब देर हो गयी तो वो जम्हाइयां लेने लगी. मैं उठने लगा तो वो कमाल सादगी से बोली—शरीफ़ तुम अब घर जाओ. ऐसा लगता है हम एक दूसरे के दोस्त बन सकते हैं. मेरा दिल यही कहता है.''

''मैं ज़रा झूम रहा था. जी चाहा उसे भींच कर प्यार कर लूं, लेकिन न जाने क्यों बद तहज़ीबी का एहसास हुआ. शायद हम दोनों शिकार हैं, किसी अजीब कुव्वत के.....''

(8)

दीवाना है दीवाना, दीवाने को क्या कहिये

''रात के खाने के बा'द जब मैं मीरा की बिल्डिंग से निकल रहा था,तो मुझे

बूढ़े दरबान ने ग़ौर से देखा और ज़रा मुस्कराया. मैं उसे कामयाब मर्द दिखायी दिया हूंगा. मेरे दफ़्तर में कोई ग्यारह बजे मीरा का फ़ोन आया—मैं आज पिट्सबर्ग जा रही हूं. वहां मेरा चचेरा भाई है. इतवार की रात वापसी होगी. सोम को मिलेंगे. तुम मुझे खाना क्या खिला रहे हो ? मैं बेक़रार रहूंगी. शरीफ़, सचमुच तुम बड़े प्यारे हो, बड़े लवली हो."

"मैं हवासबाख़्ता-सा हो गया. ख़ुद को संभालकर बोला, मैं तुम्हें खाना चाहता हूं."

"क्या कहा ?"

"मैं ज़रा सिटपिटा गया—तुम जहां कहोगी वहीं चलेंगे."

"नहीं तुम जहां कहो,वही ठीक है. मुझे न्यूयार्क शहर के बारे में कुछ ज़ियादः मा'लूम नहीं."

"तुम वापस तो आ जाओ. एक ऐसी जगह चलेंगे जहां की वेट्रैस जिस्म के ऊपरी हिस्से को खुला रखती हैं.'

"तौबा है. बिल्कुल नहीं. मैं ऐसी जगह हरगिज़ न जाऊंगी." लेकिन उसकी आवाज़ में हंसी थी.

"मैंने कहना चाहा, तो फिर तुम अपने ऊपरी जिस्म की नुमाइश करना. लेकिन हिम्मत न पड़ी. सच जानिये हबीब मियां साहिब, हवस मुझे दीवाना नहीं बना रही थी. उसके जिस्म को छूने, उससे खेलने की ख़्वाहिश ज़ुरूर थी. लेकिन क्या मैं कह सकता हूं कि मैं उसके दिल में उतरना चाहता था."

(9)

"इतवार को दोपहर ही से तेज़ हवाएं चलनी शुरू हुईं. आपने हबीब मियां साहिब ! इन हवाओं को देखा होगा कि किस तरह मेनहटन की फ़लकबोस (गगनचुंबी) इमारतों को झूला झुलाती हैं. मैं दिल बहलाने को किसी म्यूज़ियम में गया हुआ था. किसी न किसी तरह घर लौटा. और फिर जो बारिशें आयीं तो सारी रात होती रहीं. मैंने एक बार भी न सोचा कि मीरा क्योंकर वापस लौटी होगी. मेरे ज़ेह्न में उथल-पुथल थी. मैं उसे बिस्तर में न चाहते हुए चाह रहा था.

"आप शरीफ़ भाई, हेमलेट का रोल अदा कर रहे थे To love or not to love."

"हो सकता है. लेकिन मेरे भाई, मैं महसूस कर रहा था कि उस दिलकश लड़की से मेरा मुआमला ज़रा दूसरी तरह का है. सिर्फ़ हुस्न, दिलकशी, जाज़्बीयत और जिन्सी कशिश का क़िस्सा न था. मेरे ता'ल्लुक़ात हसीनतर अमेरिकी औरतों से रह चुके थे."

सोम के दिन कोई ग्यारह बजे मीरा ने शरीफ़ हसन को फ़ोन किया.

"Hi, you sweet guy! कैसे हो शरीफ़ ? मैं आज सुब्ह कोई नौ बजे वापस आयी. मौसम बहुत ख़राब था.....हां, हां सब ठीक है. आज की डेट ? बिल्कुल याद है.....तुमने मुझे याद किया था ?.....याद तो मैं भी करती रही. तुम्हारा जिस्म याद आता रहा (हंसी) मेरा मत्लब तुम्हारी पूरी शख़्सियत से है. तुम हो बड़े दिलचस्प, उम्दा दोस्त.....हां हां, आज शाम चलेंगे. छह बजे तक मेरे घर आ जाओ, क्यों ? अरे बाबा मुहब्बत क्या ? फिर मिलेंगे !"

शरीफ़ हसन ने फ़ैसला किया कि आज खाना उसके घर पर खाया जायेगा. उन्होंने चार बजे दफ़्तर छोड़ कर सारे सामान इकट्ठा कर लिये. मीरा ने उन्हें ऐसे इशारे दिये थे कि उनका माज़िंदरानीपन जाग उठा था. खाना अमेरिकी भी था, हिंदुस्तानी भी. साढ़े पांच बजे उन्होंने मीरा को बता दिया कि खाना घर ही पर है. वो राज़ी हो गयी. मैं साढ़े छह तक आऊंगा.....नहीं नहीं, कोई दूसरा मेहमान न बुलाना. अरे भई, किसी क़िस्म की फ़ॉर्मेलिटी नहीं. बस खाना खा लेंगे. बातें होंगी.....और क्या ? नहीं नहीं भई. मेरा नाम शरीफ़ है. शरीफ़ इंसान हूं. हीहीही !

शरीफ़ हसन मीरा को लेने गये. उसने सुर्ख़ शलवार और ऊंची-सी क़मीज़ पहन रखी थी. कानों में बड़े-बड़े टॉप्स. गुलाबी लिपस्टिक.

"आप साहिब, निरी क़ातिल लग रही हैं."

"क्या हमारा काम क़त्ल करना नहीं ? लेकिन याद रहे, मैं बंगाली कन्या हूं."

"बिल्कुल याद है, ए बंगाल की साहिरा बेगम !"

"जब मैं उसे लेने निकला था, तो बाहर हल्की-हल्की फुहार हो रही थी. मैंने बरसाती पहन ली थी और छतरी रख ली थी. निकलते वक़्त मीरा ने प्लास्टिक की बरसाती पहन रखी थी. जब हम निकले और सड़क पर आये तो मीरा ने पूछा, तुम्हारी कार कहां है ?"

"पैदल चलते हैं."

"क्यों ?"

"गाते चलेंगे ! Walking in the rain !"

"तौबा है. गाने का शौक़ है तो आप गाएं. बारिश में मेरे बाल ख़राब हो जाएंगे."

"लीजिये, ये छतरी हाज़िर है."

"वो मुझ से लग कर चलने लगी. मैंने दुआ मांगी, ख़ुदाया ! इस वॉक को क़ियामत तक चलने दे, बारे-इलाहा ! मुझे वालिदा याद आयीं. बेटा, हश्र के रोज़ बहुत चलना पड़ेगा. ठीक है आपा, हम दोनों साथ चलेंगे. क्या तू नहीं जानता, मैं ज़ियादः नहीं चल सकती ? आप उस वक़्त फिर जवान हो जाओगी. कैसी कुफ़्र की

बातें करता है बेटा ? फ़ैसले के बा'द ही मैं जवान हो सकती हूं. मगर मैंने मीरा की कमर में अपने बाज़ू हमाइल कर दिये और मैंने तक़रीबन ये फ़ैसला कर लिया कि अगर मैंने शादी की, तो ऐसी ग़ज़ाल-चश्म से करूंगा (लेकिन उसे मुसलमान होना पड़ेगा. ज़ेह्न ने कहा, क्यों ? क्योंकि तुम मुसलमान हो और अगर वो न मानी ? मानेगी क्यों नहीं ? देखो, किस क़दर प्यार से तुम से लिपट रही है.)

'अपार्टमेंट पहुंच कर हमने बरसातियां उतारीं. मैंने उसे बाज़ुओं में जकड़ लिया. वो कसमसा कर निकल गयी, मुझे मलाल-सा हुआ.''

''खाना खा लेते हैं.''

''हां. बिल्कुल. मुझे सख़्त भूख लगी है. लंच में बस एक सेब खाया है.''

शरीफ़ हसन ने खाना सजाया. सुर्ख़ वाइन अपने गिलास में ढाली. पहले तो मीरा ने इन्कार किया, फिर मान गयी, ''बस आधा गिलास. मैं आदी नहीं हूं.''

खाने के दौरान शरीफ़ हसन ने महसूस किया कि मीरा ज़रा सुरूर में आ रही थी. वाइन में थोड़ी-सी रम मिला देना चाहिये थी. कोई बात नहीं. आज नहीं तो कल परी शीशे में उतर आयेगी. लेकिन औरत के साथ अकेले होते तो उन्हें हमेशा एक तर्ज़ के गुनाह का एहसास हुआ करता था. उस वक़्त भी हुआ.

''जानते हो शरीफ़, मेरी भाभी मुझ से क्या कह रही थी ? कहती थी, अरी तू शादी क्यों नहीं कर लेती ? मैंने कहा : लड़का दिलाओ. भाभी बोली, लड़का ढूंढ़ने पर मिल ही जाता है. बस तू बता दे कि करेगी शादी, लड़का हम ढूंढ़ लेते हैं. मैं चुप हो गयी तो कहने लगीं, क्यों री, क्या सोच रही है ?''

''तुम मुझ से शादी कर लो मीरा'', शरीफ़ हसन अचानक बोल पड़े.

''तुम से ?''

''क्यों नहीं ? मैं जवान हूं. हिंदुस्तानी हूं. नौकरीपेशा हूं. क्या ख़राबी है मुझ में ?''

''ना बाबा, शादी और तुम से ? नहीं नहीं !''

''इसलिये कि मैं मुसलमान हूं ?''

''नहीं, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता.''

''तो फिर क्या बात है ?''

''तुम बंगाली नहीं हो.''

अचानक वो खिलखिला कर हंसी, ''लेकिन तुम बंगाली बन सकते हो.''

''वो क्योंकर ?''

''तुम्हें माछी-भात खाना पड़ेगा.''

''ओह.....मगर मेरी मुलाक़ात किसी बंगाली फ़ेमिली से नहीं.''

''मैं तुम्हें अपने हाथों से बना कर खिलाऊंगी. तीन बार खाना पड़ेगा. फिर

कपूरथला की ये बंगालन मस्अले पर ग़ौर करेगी.''

मैं ख़ामोश रहा. लेकिन ज़ेहन में हलचल मच रही थी. चलते वक़्त वालिदा ने कहा था, ''बेटा इधर-उधर शादी न कर लेना, तुम्हें ख़ूब मा'लूम है, हम आ'ला माज़िन्दरानी ख़ानदान से ता'ल्लुक़ रखते हैं. तुम्हारे अब्बा को यही फ़िक्र है. बेटा, हमारी लाज रखना.''

''मैं, मेरे भाई हबीबमियां साहिब, किस-किस की लाज रखता ? अपने ख़ानदान की, मीरा की, अपने इश्क़ की, काइनात की, उस मालिक की जिसने अक़्ल व समझ से नवाज़ा था. इस बेरहम दुन्या में मुझे आज़ाद छोड़ दिया था, जहां सूखे पेड़ों पर गिद्ध बैठे हम जैसे सीधे-सादों का इंतिज़ार कर रहे थे. अचानक मेरी आंखों में आंसू आ गये. उस वक़्त हम कॉफ़ी पी रहे थे. मीरा ने मेरी जानिब देखा, मेरे नज़दीक आयी और मुझे गले से लगा लिया. सच कहता हूं मेरे भाई, मुझे बिल्कुल ख़्वाहिश नहीं हुई कि उसे उठा कर बेडरूम के अंदर ले जाऊं. मैं उससे अलग हो गया. उसने मुझे बहुत ग़ौर से देखा. फिर और भी नज़दीक आयी. शरीफ़ माई डार्लिंग, वो धीरे से बोली और मेरे होंटों पर एक बोसा दे दिया. हम देर तक यूं ही बैठे रहे. बाहर देर से बारिश हो रही थी. उस वक़्त अचानक रुक गयी. चलो, घर पहुंचा दूं, मैंने कहा. वो बोली, शरीफ़ मैं नहीं जानती थी कि तुम इस क़दर शरीफ़ इंसान हो.''

''आपको मैं बता दूं हबीबमियां साहिब, वो दरअस्ल चाहे जैसी भी रही हो, लेकिन मुझे इस क़दर ख़ुलूस के साथ कभी किसी ने शरीफ़ इंसान नहीं कहा है.''

(10)

''मेरे भाई हबीबमियां साहिब, आप ज़रा ये तो बताएं कि इश्क़ आख़िर है क्या, कौन-सी शै है जो आदमी को दीवाना बनाती है, इंसान बनाती है ? आप भी पढ़े-लिखे हैं, आप ही वाज़ेह करें. ये सारे इल्म पढ़ कर मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आता.''

''भाई शरीफ़ साहिब, मैं क्या बता सकता हूं, मैंने ये गलियां छानी ही नहीं हैं. महज़ इतना कह सकता हूं कि मर्द और औरत के दरमियान इश्क़ अगर हमेशा नहीं तो ज़ियादःतर जिन्सी (सेक्सी) कशिश की वज्ह से होता है. लेकिन मुआमला इतना सहल भी नहीं. ऐसे वारदात भी हो गुज़रे हैं कि मुहब्बत महज़ सुनी-सुनायी बातों पर क़ाइम हो गयी. लेकिन शायद वहां भी जिंस की कारगुज़ारी हो. अगर हम नयी परिभाषा में कहें तो यूं कहेंगे कि इश्क़ के ज़रीए फ़र्द अपने जीन (gene) ज़ियादः से ज़ियादः आबादी में फैलाने की कोशिश करता है और शरीफ़ाना तौर पर करता है. अपने जिन्सी जज़्बे को एक तर्ज़ की ख़ुदाई अता करता है. शायद यही ख़ुदाई वाला मुआमला है जिसकी वज़ाहत नहीं की जा सकती. हम अभी बहुत सारी बातों के राज़ से वाक़िफ़ नहीं हो सके हैं, जैसे काइनात का वुजूद, माद्दे के बुन्यादी ज़र्रात, इसी तरह इश्क़ का

मस्अला भी फ़िलहाल अनसुलझा-सा है.''

''आप ठीक कह रहे हैं हबीबमियां साहिब, हम इस मस्अले पर ग़ौर करते ही चले जाएंगे, यहां तक कि दोज़ख़ बर्फ़ की मानिंद जम जायेगी लेकिन कुछ हासिल न होगा. आप जानते ही हैं कि अफ़लातून ने अपने सिम्पोज़ियम में इश्क़ के बारे में क्या कहा है. शाइर तो यूं कह गया है कि :

वो अफ़लातून का कहा/है फ़क़त फ़ल्सफ़ा सा/इश्क़ को इससे भला ?

लेकिन सुक़रात का दावा है कि रूहें इश्क़ में मुब्तला होकर हुस्ने-मुकम्मल और ख़ैरे-मुकम्मल की जानिब जाने की कोशिश में लगी रहती हैं. यही तन्मयता आशिक़ को दीवानगी बख़्शती है. हुस्ने-मुकम्मल और ख़ैरे-मुकम्मल उस आलम की हस्तियां हैं. इंसानों के जिस्म वहां पहुंच नहीं सकते, लेकिन रूहें जो उस आलम से आयी हैं, इश्क़ के सहारे उसी आलम को लौट जाना चाहती हैं. इश्क़ ही वो ज़रीआ है जो रूहों को दोबारा अमर बनाता है. जैसा कि मैंने आपको बताया, उस शाम हम दोनों पर कुछ ऐसा जादू था कि हम जिस्मानी तौर पर एक न हो सके. वो क्या जादू था, ये बात अब तक मेरी समझ में नहीं आ सकी.''

''लेकिन शरीफ़ भाई, फिर आप दोनों किस हादिसे का शिकार हो गये कि दो रूहें एक न हो सकीं ?''

''भाई हबीबमियां, जिन्स का शोला-ज्वाला जो है, उसे जला कर ख़ाक कर देना ख़ूब आता है. हम दोनों इस क़दर घुल-मिल गये थे कि हर कोई समझता था कि हम अनब्याहे जोड़े हैं. मीरा का इस्रार था कि वो मेरे अपार्टमेंट में आकर मेरे ही साथ रहने लगे. दो का ख़र्च क्यों बरदाश्त किया जाए, वो कहती. फिर दीगर सहूलतें भी होंगी.''

''कौन-सी सहूलतें ?'' मैं पूछता.

''यही कि जब चाहेंगे, मुहब्बत का खेल रचा सकेंगे.'' वो कहती. लेकिन मेरे भाई, मैं महसूस करने लगा था कि रफ़्ता-रफ़्ता हम दोनों की आवारा जिन्सी आंखें दूसरों के पुरकशिश अंगों पर भी निगाहें डालने लगी थीं. क्या जहां सारे हिजाब जाते रहते हैं, वहां ऐसा ही होता है या ये नॉर्मल इंसान का जिन्सी जज़्बा है ?''

''अगर मैं किसी नाज़ुक कमर को देख कर ठंडी सांसें भरने लगता, तो वो किसी तरहदार जवान की जानिब झुकती नज़र आती. लेकिन भाई, मुझे ऐसा लगता है कि मुआमला सिर्फ़ ताज़ा जिन्सी कशिश का नहीं था, बल्कि जिस्मों के मेल ने हम में वो कमज़ोरी पैदा कर दी थी जो हमें उस राह पर चलने से रोक रही थी जिस पर चल कर हम हुस्ने-मुकम्मल और ख़ैरे-मुकम्मल तक पहुंच सकते.''

''आप, शरीफ़ भाई, उस कैफ़ीयत या कशमकश में मुब्तला हो गये थे, जिसे सूफ़ियाना ज़ुबान में इश्क़े-मजाज़ी कहा जा सकता है.''

"शायद. शायद. मीरा पहली हिंदुस्तानी लड़की थी जिससे मैं जिस्मानी तौर पर वाबस्ता हुआ था. अगर नस्ली और तहज़ीबी समानता को ध्यान में रख कर सोचा जाए तो क्या कोई बात बन सकती है ? फ़हम का कोई दर खुल सकता है ?"

"शरीफ़ भाई, आप ठहरे ईरानी नस्ल के हिंदुस्तानी. वो थी बंगाली मिट्टी की. अगर आप के ख़ानदान वालों ने ख़ानदान से बाहर शादियां कीं, तो मुसलमान अशराफ़ में. मीरा के ख़ानदान वालों ने भी ज़ियादःतर शादियां बंगालियों ही में की होंगी. आप दोनों का जिन्सी मिलन कम-अज़-कम आपके लिहाज़ से एक पुरपेच गुनाह था."

"पुरपेच ? उसे पुरपेच आप न कहें. एक वक़्त तो वो आ गया था कि मेरे लिये ये एक क़िस्म का नाजाइज़, बाज़ारी, रंडियों से ता'ल्लुक़ जैसा लगने लगा था."

"अरे तौबा !"

"इसलिये कि जब मैं उसके साथ पहली बार हमबिस्तर हुआ तो मैंने जान लिया था कि वो न तो कुंआरी थी और न इस खेल के पहलुओं से नावाक़िफ़. सारे गुर उसे मा'लूम थे और मैं उससे शादी करने की सोच रहा था.....इसके इलावा क्या हम दोनों एक ही मिली-जुली तहज़ीब के पैदावार नहीं थे ?"

(11)

उस रात इश्क़ का कच्चा धागा मीरा और शरीफ़ हसन के दरमियान बंध गया. दूसरे दिन बारह बजे के क़रीब मीरा शरीफ़ हसन के कमरे में आयी. पहले उसने ज़रा संभल कर उसे बोसा दिया, फिर बोली : "आज डार्लिंग तुम मुझे कहां खाना खिलाने ले जा रहे हो ?"

"हम आज Goulash खाएंगे."

शाम से ठंडक दफ़अतन बढ़ गयी थी. शरीफ़ हसन उसे लेने गये तो उसने भारी कोट पहन रखा था. एक टैक्सी की गयी. दोनों पास लग कर बैठे और एक दूसरे को ताज़ा शादीशुदा जोड़ों की तरह मस करते रहे. हंगेरियन रेस्तोरां में जब मीरा ने कोट उतारा, तो शरीफ़ ने देखा कि उसने बारीक-सी हल्की फूलदार शर्ट और ज़रा तंग पतलून पहन रखी थी. गोलाश खाया गया जिसे शरीफ़ हसन हमेशा फ्रेंच ब्रेड के साथ खाते थे. सुर्ख़ वाइन लायी गयी तो इस बार मीरा बेतकल्लुफ़ी के साथ पीने पर आमादा हो गयी. केक पर क्रीम डाल कर लुत्फ़ को दोबाला किया गया. शरीफ़ हसन जब रेस्तोरां से बाहर निकले तो वो ज़रा झूम रहे थे. मीरा ज़रा-ज़रा-सी बात पर हंसे जा रही थी. टैक्सी में बैठकर शरीफ़ हसन ने उसे अपनी जानिब खींच लिया. मीरा के अपार्टमेंट पहुंच कर जब मीरा ने कोट उतारा तो शरीफ़ हसन बेक़ाबू हो गये. मीरा ने उन्हें संभाला. पुलमेन में जोज़ेफ़ाइन के साथ पहली बार हमबिस्तर होकर शरीफ़ अपना 'कुंआरापन' खो बैठे थे. लेकिन उन्हें उम्मीद थी कि मीरा कुंआरी होगी. जब उन्हें पता

चला कि मीरा न तो दोशीज़ा थी और न मज़े से नाआशना तो उन्हें यकगोना मायूसी का एहसास हुआ. लेकिन फिर भी वो तक़रीबन तमाम रात लुत्फ़ के जाम चढ़ाते रहे.

"मैं आपको बताऊं हबीबमियां साहिब, मुझे उम्मीद थी कि मीरा virgin होगी. मुझे धक्का-सा लगा. लेकिन रफ़्ता-रफ़्ता मैं मानूस-सा हो गया. उसने मुझे संभोग के कई खेल सिखाये. मैं बहरहाल उसके इश्क़ में मुब्तला था और मुझे हमेशा ऐसा लगा कि वो भी मेरी तरह दीवानी हो रही है."

"लेकिन शरीफ़ भाई, आप इस मुल्क में मुद्दतों से हैं. बीसियों औरतों से आपके ता'ल्लुक़ात रहे हैं. भला कितनी लड़कियों को आपने virgin देखा है ?"

"भाई हबीब मियां साहिब, आप दुरुस्त फ़र्माते हैं, लेकिन फिर भी.....फिर भी....."

"फिर भी क्या ? मीरा कितने दिनों से अमेरिका में थी ?"

"वो कैलिफ़ोर्निया में कोई छह साल से थी और वहां के निस्बतन आज़ाद माहौल में किसी हसीन लड़की का कुंआरी रहना दुश्वार है. लेकिन भाई मेरे, मैं उसे कुंआरेपन के बरक़रार रहने पर इतना उदास और हैरान नहीं था जितना कि उसके बाहया न होने पर. मुझे महसूस होने लगा था कि जिस मिली-जुली तहज़ीब की वो पैदावार थी, उससे वो ख़ासी दूर हो चुकी थी. मैं ये नहीं कहता कि अमेरिकी तहज़ीब की अच्छी बातों को अपनाना दुरुस्त नहीं. मैं बस ये कहता हूं कि हमें अपनी बुन्याद, अपनी जड़ों की हिफ़ाज़त करनी चाहिये.हमारे लिये शंकराचार्य और निज़ामुद्दीन औलिया इतने ही अहम हैं जितनी मीराबाई और ग़ालिब. तहज़ीब के बंधन में हम किसी तौर पर बाहया बन जाते हैं. बाहया होने से मेरी मुराद वो सब कुछ है, जो आप और हम अज़ीज़ रखते हैं. अजंता के ग़ारों की तस्वीरें और डाविंची (Da Vinchi) की मोनालिज़ा इतनी ही प्यारी हैं; जितनी होमर और फ़िरदौसी की तहरीरें. मुझे बड़ा अफ़सोस हुआ जब उसने मेरी किताबों को देखा और ज़रा नाक बिसूर कर बोली, इन किताबों पर इस क़दर पैसे ख़र्च करके तुम्हें क्या मिला शरीफ़ डार्लिंग ? लाइब्रेरी से ला कर पढ़ सकते थे. भैया, मैं सच कहता हूं कि मेरा जी चाहा, उसे उसी वक़्त घर से निकाल दूं. लेकिन आप जानते हैं आशिक़ की मज्बूरी !"

इतवार की रात का खाना दोनों दोस्तों ने घर ही पर खाया. हबीबमियां साहिब बटर-मिल्क पीते रहे. शरीफ़ हसन ने इस्तदुआ की कि ओरेंज जूस में थोड़ी रम मिला कर नोश करें. हबीबमियां बोले, शरीफ़ भाई मुझे कल सुब्ह न्यू हैवन जाना है. कहीं ऐसा न हो कि नीचे उतर कर सड़क के किनारे बेहोश हो जाऊं.

(12)

खाना खाने के बा'द शरीफ़ हसन ने व्हिस्की की बोतल खोली, बर्फ़ की डलियां लम्बे से गिलास में डाल कर थोड़ी व्हिस्की और थोड़ा पानी मिलाया.

"आप सुब्ह जा रहे हैं हबीबमियां. आपसे कितनी बातें करनी थीं. अब ख़ुदा मा'लूम कब मुलाक़ात हो. आप अमेरिका क्यों नहीं आ जाते ? कोलम्बिया न सही, दूसरी यूनिवर्सिटियां मुंह फाड़े अच्छे स्कॉलरों की ताक में लगी रहती हैं."

"भाई शरीफ़ साहिब, मैं तो अब Welshman बन गया हूं. अब कहां की ख़ाक छानता फिरूं ?"

"अरे भाई हबीबसाहिब, यहां आपको पैसे ज़ियादः मिलेंगे. किताबें ख़रीद सकते हैं, अच्छे रेस्तोरानों में जा सकते हैं, दुन्या घूम सकते हैं."

"बहरहाल ये सारी बातें तो हुईं. मैंने आपको अपने इश्क़ की दास्तान का आख़िरी हिस्सा तो सुनाया ही नहीं. मैं चाहता था कि आप सुनें और मुझे बताएं कि मुझे निकाल दिया जाएगा या मुझे बख़्श दिया जाएगा ? ख़याल रहे कि मैं गुनाह और सवाब के मा'नी में बात नहीं कर रहा हूं. मैं हयादारी, तहज़ीब, नफ़ासत, इंसान दोस्ती, नेकी और मालिके-कुल से नज़दीक होने की ज़बान में बातें कर रहा हूं."

(13)

मीरा और शरीफ़ हसन ने फ़ैसला किया था कि शाम का डिनर एक फ्रेंच रेस्तोरां में खाएंगे जो कि केपटाउन के इलाक़े में ताज़ा-ताज़ा खुला था और उन दिनों बहुत फ़ैशन में था. क्या सीट रिज़र्व हो जाएगी ? मीरा ने दरयाफ़्त किया था.

"मैं अभी फ़ोन कर लेता हूं."

सीट महफ़ूज़ हो गयी तो उन्होंने मीरा को फ़ोन पर बताया.

"तुम किस वक़्त मेरे हां आओगे ?"

"यही कोई सात बजे. हमें वहां साढ़े सात तक पहुंचना है."

"ओ.के. बॉय."

कोई पौने पांच बजे शरीफ़ हसन ने दफ़्तर छोड़ा. न मा'लूम कौन-सी बात हुई कि वो सीधे मीरा के यहां गये. अपार्टमेंट के बाहर की चाबी उनके पास थी ही. दरवाज़ा खोला तो देखा कि मीरा किसी अमेरिकन लौंडे के साथ बोसेबाज़ी में मस्रुफ़ है. दरवाज़ा खुलने पर दोनों अलग हो गये. मीरा ने पुकारा, "शरीफ़ !"

दरवाज़ा बंद करते हुए शरीफ़ हसन ने ज़रा चीख़ कर कहा you bitch और उल्टे पांव वापस हो लिये.

शरीफ़ हसन घर आये. ज़ेह्न खोखला-सा हो रहा था. ऐसा लगा कि बहुत थक गये हैं. वो कपड़े उतार कर बिस्तर में जा घुसे तो नींद भी आ गयी. जब नींद टूटी तो साढ़े आठ बजने वाले थे, अचानक फ़ोन की घंटी बजी. उन्होंने फ़ोन उठाया.

"हाय डार्लिंग शरीफ़ !" दूसरी जानिब से आवाज़ आयी.

उन्होंने फ़ोन रख दिया. वो सारी घटना को तक़रीबन भूल गये थे. उठ कर खाना तैयार करने लगे. निकाला. टेलीफ़ोन की घंटी फिर बजी, "शरीफ़, मेरी बात तो

सुनो."

"अगर दोबारा फ़ोन किया तो मैं पुलिस को फ़ोन कर दूंगा. मालज़ादी कहीं की !"

वो खाने बैठे तो हज़ारों साल बा'द उनके मुंह से निकला—या अल्लाह! मुझे मुआफ़ कर दे, ए रहमान, ए रहीम! मेरे गुनाह मुआफ़ कर दे. अचानक उन्हें महसूस हुआ कि उनके मालिक ने उनकी दरख़्वास्त मान ली है. उनका ज़ेह्न बिल्कुल ख़ाली और पुरसुकून हो गया था.

दूसरे दिन दफ़्तर वो उसी सुकून के साथ पहुंचे और काम में मसरूफ़ हो गये. मैरी जोएन ने फ़ोन पर चंद बातें पूछीं, उन्होंने इत्मीनान से जवाब दिये. साढ़े ग्यारह बजे मीरा कमरे में दाख़िल हुई.

"क्या कर रही हैं आप यहां ? दफ़ान हो जाइये, चलिये."

"Get out, or I will throw you out ?" वो कुछ रुआंसे होकर चीख़े.

मीरा कुछ सहम गयी, लेकिन फिर उनके नज़दीक आयी, "शरीफ़, मैं न्यूयार्क छोड़ रही हूं. चंद दिनों में चली जाऊंगी. तुम मुझे मुआफ़ कर सकोगे ?"

"Good riddance ख़स कम जहां पाक !"

वो वापस जाने को मुड़ रही थी कि शरीफ़ हसन ने कहा, "तुम उस हरामी को तो लिये जा रही होगी या एल.ए. में ऐसे बहुत से मिल जाएंगे."

मीरासेन ठिठकी. आहिस्ता से कुछ बोली. उसने शायद Bastard का लफ़्ज़ अदा किया था.

(14)

उनकी दोबारा मुलाक़ात न हुई. मीरा कब कैलिफ़ोर्निया गयी, शरीफ़ हसन को मा'लूम नहीं. उनकी कई चीज़ें मीरा के हां थीं, वो उन्हें दफ़्तर के ज़रीए मिलीं.

कौन शिकारी था, कौन शिकार, शरीफ़ हसन तै न कर सके.

"हबीबमियां, क्या कोई इश्क़ कामयाब भी रहता है या नाकामयाब ? मियां फ़िद्दे ने चिलमन के पीछे चूड़ियां खनकती सुनीं. आशिक़ हो गये. रिश्ता भेजा, मन्ज़ूर हुआ. इश्क़ गोया कामयाब रहा. फ़र्हाद ने तैशे को सर पर मार लिया. क्या उसका इश्क़ नाकामयाब रहा ? कौन-सी ऐसी मीज़ान है जिस पर तौल कर हम फ़ैसला कर सकते हैं ?"

"कोई मीज़ान नहीं शरीफ़ भाई. मुझे तो लगता है कि मीज़ान सिर्फ़ वही है जो ये फ़ैसला करे कि इश्क़ के दौरान आशिक़ कितना साबित क़दम रहा, कितना बाहया रहा, कितना मुहज़्ज़ब रहा. क्या उसने इश्क़ के दौरान इंसान-दोस्ती को हाथ से जाने दिया, ऐसी हरकतें कीं कि उसका ज़मीर उसे बा'द में मलामत करता रहे ? इश्क़ न तो पानी का ठंडा गिलास है, न तेज़ शराब. इश्क़ एक क़ुव्वत है जो काइनात को बरक़रार

रखती है."

"ख़ुदाई क़ुव्वत की मानिंद."

"शायद. लेकिन ज़ुरूरी बात ये है कि हम उस ताक़त का एहतिराम करें. उसे शिकार और शिकारी के हवाले से न देखें."

"भाई हबीब साहिब, मीरा से जुदाई के बा'द मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मैं इस दुन्या में तनहा था, और तनहा ही रहूंगा. इसलिये मेरे लिये ज़ुरूरी था.....और अब भी ज़ुरूरी है कि मैं इस दुन्या से ज़ियादः से ज़ियादः मसर्रत और लुत्फ़ ज़ियादःतर जिन्सी मसर्रत और लुत्फ़ निचोड़ूं. यही मैं करता आया हूं. मेरे लिये गुनाह या सवाब की कोई वक़्अत नहीं. इतना ज़ुरूर जानता हूं कि मेरा ख़ालिक़, मेरा पालनहार मेरी अंदरुनी ख़लिश से वाक़िफ़ है. उसे इल्म है कि मैं मसर्रत और लुत्फ़ के उन लम्हात की तलाश में हूं, जिन्हें मैंने मीरा के साथ हासिल किया था. मुख़्तलिफ़ औरतों से मेरा वासिल होना उन्हीं लम्हात को दोबारा गिरिफ़्त में लाने की कोशिश है. चंद औरतों की क़ुर्बत में रह कर मुझे ज़ुरूर ऐसा लगा कि वो लम्हात बस वापस आने वाले हैं. लेकिन फिर मा'लूम हुआ कि वो सब की सब महज़ हवस और जिस्मानी लुत्फ़ की मारी हुई थीं. इश्क़ की उस शिद्दत ने मुझे हवसकार ज़ुरूर बनाया है, लेकिन ये हवस, अगर मैं यूं कहूं, सआदत की मंज़िल की जानिब जाने की हवस है, महज़ औरतों से लुत्फ़ उठाने की नहीं."

"मियां साहिब, कहा गया है कि आदमी बुलबुला है पानी का. बात बहुत हद तक दुरुस्त है. लेकिन इस बुलबुले पर इतनी ठेसें लगती हैं जब कि उसके टूटने का वक़्त आता है तो उसकी शक्ल ही वो नहीं होती जो पहले थी. इंसान नई राहों, नये तौर, नये तरीक़ों की जुस्तजू कर रहा है. क्या हमारी मिली-जुली तहज़ीब तारीक ग़ार में दाख़िल हो रही है ? हमने हज़ार कोशिशें कीं, मुहब्बत के नग़्मे गाये, मुहब्बत की. क्या ये सब कुछ महज़ सराब (मरीचिका) था, फ़्रॉड या मायाजाल. क्या हम जो रुख़्सत हो रहे हैं, उस वादी में दाख़िल हो सकेंगे जहां हम इश्क़ की मदद से जाना चाहते हैं ? मुझे जन्नत जहन्नुम से कुछ भी लेना-देना नहीं. लेकिन मैं जानता हूं कि मैं जहां भी जाऊंगा Beatrice वाले दांते से मेरी मुलाक़ात ज़ुरूर होगी. और मैं उसे ज़ुरूर पूछूंगा : "ए मर्दे-मोमिन, ये तो बता कि तुझे इश्क़ से क्या मिला ?"

(15)

27 अप्रेल 2002 को हबीबमियां को न्यूयार्क से एक लिफ़ाफ़ा मिला.

बरादरे-अज़ीज़, हबीबमियां साहिब, एक अर्से से आप इधर तशरीफ़ नहीं लाये, मैं इंतिज़ार करता रहा. आप जैसे मुख़्लिस दोस्त अब नायाब हो गये हैं. अब हरेक अपनी दुकान ख़ुद सजाता है. आपसे मिलने का दिल बहुत चाहता है. आपकी भाभी आपका इंतिज़ार करती हैं. हमने 16 अप्रेल को शादी कर ली. उस वक़्त मेरी उम्र 68

साल की थी. आपकी भाभी मुझ से कोई पंद्रह साल छोटी हैं. उनका नाम शकुंतला है. तमिल ब्राह्मण हैं. पहले शौहर मर्चेंट नेवी में थे. वो एक हादिसे में जां-बहक़ हो गये. कोई औलाद नहीं हुई. शकुंतला नॉवेलनिगार हैं, अंग्रेज़ी और तमिल दोनों ज़बानों में लिखती हैं. पैंग्विन इंडिया ने शकुंतला रमन का एक नॉवेल शाए' किया है, आपने शायद देखा हो. यही शकुंतला आपकी भाभी हैं. आजकल रैंडम हाउस के लिये लिख रही हैं.

.....मेरी ये नई चाहत अपना मिज़ाज आप रखती है. आप आएं तो बातें हों. सुना है, आप सन्यास ले रहे हैं. कारडफ़ से दूर कहीं उत्तरी वेल्स की किसी ग़ैर आबाद मुक़ाम पर. ये बात कहां तक सच है? भई, आप हमारी तरफ़ ज़ुरूर आएं. ऐसा लगता है, अमेरिका दोबारा तेज़ी से बदल रहा है. दो इंक़िलाब एक फ़र्द की ज़िंदगी में, अल्लाह, अल्लाह!

आपका मुख़्लिस दोस्त

शरीफ़ ❑

(शबख़ून-264, इलाहाबाद)

26/सी/कोलूपुरा लेन, धाकूरिया, कोलकाता-31

जी उठे लोग जो मरना आया !

—शकील सिद्दीक़ी

अब्दुल क़वी ज़िया साहिब उर्दू के नामवर शाइर थे. पिछले साल उनका कनाडा में इंतिक़ाल हो गया. जनाबे शकील सिद्दीक़ी ने लखनऊ के हवाले से उनकी यादों को ताज़ा किया है और उनके बहाने कुछ और हस्तियां भी याद आयी हैं. शकील सिद्दीक़ी उर्दू-हिंदी के अदीब, अफ़्सानानिगार और सहाफ़ी हैं. नीज़ उर्दू-हिंदी अदब के नब्बाज़ भी.

'शेष' में अब्दुल क़वी ज़िया साहिब की ग़ज़ल पढ़कर उदासी की कैफ़ीयत तारी हो गयी. जाने क्या-क्या याद आने लगा! उनकी रेह्लत के सानिहा की इत्तिला तो मुझे थी, लेकिन ग़ज़ल ने उस ग़म को ताज़ा कर दिया! हालांकि उनसे मिलने, उनके रू-ब-रू होने का मुझे सिर्फ़ एक ही बार शरफ़ हासिल हुआ. उनके होंठों की दिलफ़रेब मुस्कराहट और मोटे लैंस के पीछे से झांकती, सोच में डूबी गहरी आँखें, अब भी कहीं मेरे अन्दर छिपी बैठी हैं. उनके वालिद साहब भी ऐसे ही मोटे लैंस का शीशा लगाते थे. उनकी आंखें भी मुझे कचोटती हैं कभी कभी! बहुत साल पहले ज़िया साहब लखनऊ आये थे, कनाड़ा से, अपने घर! तब उन्हें देखने उनके वालिद की आंखें मौजूद नहीं थीं! शाम को उनके घर शे'र-ओ-सुख़न की महफ़िलें जमती थीं, मैं अपने कोठे की ख़िड़की से झांक कर उन्हें देखा करता था. वह तहत (सहज पठन) में भी सुनाते थे और तरन्नुम से भी! एक मुहतरमा उन दिनों उन पर बिछी जाती थीं! ज़िया साहब के मकान के दोनों जानिब उनकी बहनों के मकान थे. इनमें से एक में तरक़्क़ीपसंद अदबी तहरीक के बानियों में से एक मार्क्सी मुफ़क्किर और मुस्लिम यूनिवर्सिटी के मर्हूम वाइस चांसलर जनाब अब्दुल अलीम साहिब की हमशीरा-ए-हक़ीक़ी (सगी बहन) सुकूनतपिज़ीर थीं! उन्हें हम लोग ख़ाला जान कहते थे. उस मकान के ठीक सामने वह मशहूर 'समी' मंज़िल' है, जो ज़िया साहब के छोटे भाई जनाब अब्दुल समी' साहिब के नाम से मंसूब है! और जिसमें मैंने अपनी ज़िन्दगी के कई साल गुज़ारे, किरायेदार की हैसियत से. इसे समी' मंज़िल की ख़ुश क़िस्मती ही

कहना चाहिये, उसमें बज़ाते-ख़ुद डॉ. अलीम ने कुछ अर्सा क़ियाम फ़र्माया. इससे पहले यह इमारत मश्रिक़ी उलूम का अहम मर्कज़ थी. अलीम साहब की बहन की छोटी साहिबज़ादी के निकाह की तक़रीब भी इसी मकान में अमल में आई. तब मैं वहीं रहता था—तभी मुझे अलीम साहिब जैसी नायाब-तारीख़ी शख़्सियत के नियाज़ हासिल करने का मौक़ा हासिल हुआ. क्या भारी भरकम शख़्सियत थी उनकी? पुरकशिश, फ़िक्रअंगेज़, संजीदा और एक लम्हे में ही अपनी गिरिफ़्त में ले लेने वाली. देखने से ही वह हिन्दुस्तान की अज़ीम तारीख़ का लाफ़ानी जुज़ मालूम होते थे. बाहर हाते में लॉन चेयर पर बैठे हुए वह ख़ला को जैसे घूर रहे थे. धुआं छोड़ता सिगार उनकी मोटी उंगलियों के बीच दबा हुआ था. उंगलियां जुंबिश करतीं, तो सिगार उनके होंठों तक जा पहुंचता. शेरवानी, टोपी, चौड़ी मोहरी का पाजामा और फ्रेंचकट दाढ़ी के साथ सिगार का इश्तिराक (मेल) देखते ही बनता था. वह एकदम ख़ामोश बैठे हुए थे. किसी से बात नहीं कर रहे थे. कोई सलाम या आदाब करता तो कभी सर की, कभी हाथ की, तो कभी लबों की जुम्बिश से मुख़्तसर-सा ज़वाब देते. उनकी कमगोई यों भी मशहूर थी. वह अलीगढ़ से आये थे. उनको मैंने उतने ही तजस्सुस से देखा था जितना कि ज़िया साहब को. ज़िया साहब मेरे समी' मंज़िल आने से पहले ही कराची जा चुके थे. कनाड़ा वह वहीं से गये. समी' मंज़िल कभी बहुत ख़ूबसूरत हुआ करती थी. कुछ साल क़ब्ल जब 'ख़ामाबगोश' की आफ़ाक़ी शुह्रत के मालिक जनाबे मुश्फ़िक़ ख़्वाजा कराची से लखनऊ आये थे और वह अपनी बेगम के साथ ज़िया साहब के यहां भी आयें, तो उनकी बेगम ने कुछ नाउम्मीदी के लहजे में कहा था, "ऐ! यह वही समी' मंज़िल है जो कभी बहुत ख़ूबसरत हुआ करती थी!"......मुश्फ़िक़ ख़्वाजा ने समी' मंज़िल को देखा था और पलक झपकते ही उसकी तस्वीर ले ली थी. उन्होंने ज़िया साहब के अहले-खानदान और मेरी भी तस्वीरें खींचीं. फिर वह यगाना चंगेज़ी के बारे में कुछ दरयाफ़्त करने लगे.

मुश्फ़िक़ ख़्वाजा शाइर थे और शायद नक़्क़ाद भी. वह पाकिस्तान की अंजुमने-तरक़्क़ी-ए-उर्दू से वाबस्ता थे और वहां के अदबी जरीदे ग़ालिबन 'उर्दू अदब' के मुदीर भी थे. यगाना चंगेज़ी पर उन्होंने एक यादगार नम्बर शाए' किया था और तहक़ीक़ी नौअय्यत का एक मज़्मून भी लिखा था. उनकी बेगम ज़िया साहब की अज़ीज़ होती थीं और वह इसी हवाले से समी' मंज़िल तशरीफ़ लाये थे. ग़ाइबाना तौर पर मैं उनसे पहले से वाक़िफ़ था. डॉ. नय्यर मस्ऊद के अफ़्सानवी ड्राईंगरूम में उनसे मुलाक़ात का शरफ़ भी हासिल हो चुका था. वहां भी उन्होंने समी' को अपने कैमरे में क़ैद कर लिया था. वह इत्तिफ़ाक़ से ज़िया साहब के मकान में उसी जगह हाज़िरीन से मह्वे-गुफ़्तगू थे जहां लखनऊ-क़ियाम के दौरान ज़िया साहब शे'र-ओ-सुख़न की महफ़िलें सजाते थे. ज़िया साहब की मंझली बहन जो अर्सा तक उनके मकान की केयर-टेकर

रहीं, उनकी दो बेटियों को ख़ासा अदबी ज़ौक़ था. बड़ी बेटी ने, जो अब एक गर्ल्स कॉलेज की प्रिंसिपल हैं, एक ज़माने में उर्दू फ़िक्शन की सभी बेहतरीन किताबें पढ़ रखी थीं और मुझे भी पढ़ने को दी थीं. छोटी बेटी जो अब शायद टोरेण्टो में हैं और डॉ. अलीम के छोटे भांजे की शरीके-हयात हैं, संजीदा शाइरी में ख़ासी दिलचस्पी रखती थीं. वह जब आतीं, किताबें मांगतीं.

समी' मंज़िल के सामने सड़क के उस पार थोड़ा ऊंचाई पर नवाब मुर्तज़ा हुसैन की ता'मीरात के खण्डरात थे. बीच में खजूर का एक पेड़ था, जिसके बारे में लोगों का ख़याल था कि उस पर चुड़ैल रहती है. कुछ का कहना था, बंगाले का जादू जानने वाली कोई औरत वहां वास करती है जो मर्दों को ज़िन्दा खा जाती है. वहां अब एक पार्क है.

पार्क के दायीं सम्त बने मकानों में एक में तरक़्क़ीपसंद दौर के अफ़्सानानिगार और सहाफ़ी जनाब मसीहुल हसन रिज़्वी साहिब रहा करते थे. रज़िया सज्जाद ज़हीर साहिब ने नेशनल बुक ट्रस्ट के लिए उर्दू अफ़्सानों का जो इंतिख़ाब तर्तीब दिया था. उसकी पहली कहानी 'मिट्टी' इन्हीं मसीहुल हसन साहिब की है. इनका बेटा हसन शाकिर शिआ कॉलेज में आठवीं क्लास में मेरा क्लास फ़ेलो था. उसकी एक प्यारी-सी बहन थी, जिसकी शादी इलाहाबाद में 'जासूसी दुनिया' वालों के यहां हुई. मसीहुल हसन साहिब जिस मकान में रहते थे, वह मुस्तफ़ा मंज़िल का हिस्सा था. बहुत सालों बा'द मुझे मा'लूम हुआ कि मज्रूह सुल्तानपुरी साहिब जब कभी बम्बई से लखनऊ तशरीफ़ लाते, तो इसी मुस्तफ़ा मंज़िल में आराम फ़रमाते थे. यह बात बज़ाते-ख़ुद मज्रूह सुल्तानपुरी साहिब ने भोपाल के फ़ैज़-सेमिनार में स्टेज पर मुझे अपनी बग़ल में बिठाते हुए बतायी थी. वह मुझ पर इतने करमफ़र्मा इस सबब से थे कि मैंने अपने मक़ाले (लेख) में जोश मलीहाबादी की इंक़िलाबीयत को तंक़ीद का निशाना बनाया था. मज्रूह साहिब जोश साहिब से काफ़ी नाराज़ मा'लूम होते थे. सेमिनार का इन्इक़ाद मध्यप्रदेश के प्रगतिशील लेखक संघ ने किया था. डॉ. कमलाप्रसाद उसमें पेश-पेश थे.

पार्क के बायीं जानिब थोड़ा आगे जाने पर लन्दन में मुक़ीम जनाब हैदर तबातबाई साहिब का मकान था, जिन्हें हम लोग 'हादी' के नाम से जानते थे. कुछ और आगे जाने पर शबीहुल हसन साहिब का वसीओ-अरीज़ दौलतकदा है, जिसके बालाई हिस्से में कभी डॉ. अनीस अशफ़ाक़ रहा करते थे. डॉ. अनीस इन दिनों लखनऊ यूनिवर्सिटी के उर्दू डिपार्टमेंट के हैड हैं. कभी जनाब शबीहुल हसन साहिब इस ओहदे पर फ़ाइज़ थे. उनकी वक़्त की पाबन्दी पूरी यूनिवर्सिटी में मशहूर थी. उनके मकान के तक़रीबन सामने पड़ने वाली विक्टोरिया स्ट्रीट (अब तुलसीदास मार्ग) पर दायीं जानिब एक हकीम साहिब की ख़ूबसूरत-सी आमाजगाह (लक्ष्य-स्थान) थी, शायद मतब भी था.

सुनते हैं, वह जोश मलीहाबादी के रफ़ीक़ों में थे. जोश उसी मकान में या उसके आस-पास किसी घर में कुछ अर्सा रहे भी. लखनऊ की एक मुम्ताज़ समाजी व अदबी शख़्सियत जनाब मिर्ज़ा जा'फ़र हुसैन साहिब जोश व फ़िराक़ साहिब के क़रीबी दोस्तों में थे. एक बार (तक़रीबन पन्द्रह साल क़ब्ल) उन्होंने जोश साहिब के चंद ख़ुतूत हम लोगों को सुनाये. उन ख़ुतूत में जोश साहिब ने अपने एक दोस्त, (जो बहुत हसीन था), के साथ ख़ास तरह की जिंसी ख़्वाहिशात का इज़्हार किया था. ख़ुतूत मिर्ज़ा साहिब के नाम थे. मैं शहंशाह मिर्ज़ा व मोहम्मद मस्ऊद के साथ उनके यहां गया था, बल्कि उन दिनों अक्सर जाया करता था. दिलचस्प और एक दुन्या देखे हुए शख़्स थे वह. नीट रम के बेपनाह शौक़ीन. उत्तरप्रदेश के पहले लोकायुक्त जस्टिस मुर्तज़ा हुसैन इन्हीं मिर्ज़ा साहिब के दामाद हैं. फ़ैज़ाबाद में मेरे बड़े अब्बा के हॉस्टल-मेट थे.

ज़िया साहब के मकान के एक जानिब मोहल्ला याहियागंज और दूसरी जानिब बाग़ काज़ी है. वो भी दिन थे, जब यगाना चंगेज़ी (यास अज़ीमाबादी) ने इस मुहल्ले के एक मकान में ठिकाना किया. ज़िया साहब ने अपनी यादों में, (जो मैंने कहां पढ़ीं अब मुझे याद नहीं) यगाना को गदहे पर बिठा कर उनके गले में जूतों की माला डाल कर उनका जुलूस निकालने के सानिहा का ज़िक्र किया है. ज़िया साहब के छोटे बहनोई जनाब सलाहुद्दीन उस्मान ने इस तूफ़ाने-बदतमीज़ी की इत्तिला पुलिस, को दी. उन दिनों वह कांग्रेस के अख़बार 'नेशनल हेराल्ड' में सर्विस करते थे. यह '52 या 53 का वाक़िआ है. इसकी बाज़गश्त लेजिस्लेटिव कौंसिल में भी सुनाई दी. उन्होंने काल्विन ताल्लुक़ेदार-कॉलेज में उस्ताद, अपने एक मामू का भी ज़िक्र किया है. और भी कई बातें! काल्विन ताल्लुक़ेदार अंग्रेज़ी ठाठ-बाट वाला (तब) रईसों का कॉलेज था. मेरी चची के चचा जनाब फ़सीह अहमद साहिब अर्से तक उसके प्रिंसिपल रहे. वह कॉलेज शेरवानी और अलीगढ़कट वाले पाजामा में जाते थे. फिर भी उनका दबदबा अंग्रेज़ों जैसा था, जैसा लोग बताते हैं. कॉलेज के पास ही बादशाह बाग़ में उनकी रिहाइश थी. उनके घर से मिला हुआ प्यारा-सा, टूटे ख़्वाब जैसा घर 'मजाज़' का था. दो-तीन साल क़ब्ल जावेद अख़्तर अपने मामू का मकान देखने आये, तो फ़सीह साहिब के यहां भी गये थे. फ़सीह साहिब की वाहिद बहू मेरी बीवी की ख़ालाज़ाद बहन हैं, वह मकान अब किसी और का है. क़रीब ही वह 'काशाना' भी है, जहां कुर्रतुल ऐन हैदर अपने वाल्दैन के साथ रहीं.

ज़िया साहब के तवस्सुत से मैं ड्योढ़ी आग़ामीर के 'चांदीख़ाना' का ज़िक्र इस वज्ह से मुनासिब समझता हूं कि इस बहाने लखनऊ की तारीख़ का एक वरक़ 'वा' हो जायेगा. चांदीख़ाना में अब चांदी नहीं कूटी जाती. वहां अब वसी' अहमद अख़्गर (फ़सीह साहिब के भाई) के अहले-ख़ानदान आबाद हैं. अख़्गर साहिब पेशे से वकील

और उस्ताद आर्ज़ू लखनवी के शार्गिद थे. उनके और ज़िया साहब के मकान के दरमियान एक किलो मीटर से कम का फ़ासिला है. समी' मंज़िल से मेरे चचा की बरात जब चांदीख़ाना के अख़्गर साहिब के यहां गयी, तो उसमें ज़िया साहब के लहीम-शहीम वालिद (रिज़र्व पुलिस इंस्पेक्टर) साहिब भी शामिल थे. आर्ज़ू साहिब अख़्गर साहिब को बहुत अज़ीज़ रखते थे. उन्होंने अपनी एक उम्र अपने इस शागिर्द के यहां ही गुज़ारी. उनके नियाज़ हासिल करने मशाहिरीने-वक़्त वहां तशरीफ़ लाते. सन् 52 या 53 में पृथ्वीराज कपूर बम्बई से 'पृथ्वी थियेटर' का ड्रामा ग़ालिबन 'दीवार' लेकर लखनऊ आये, तो आर्ज़ू लखनवी से मिलने चांदीख़ाना भी आये. उनके साथ बलराज साहनी भी थे. अख़्गर साहब के मझले साहिबज़ादे डॉ. अफ़ज़ाल अहमद ने अपनी यादों में कुन्दन लाल सहगल का नाम भी दर्ज किया है. अख़्गर साहिब हालांकि मेरी बीवी के ख़ालू थे, लेकिन वह और उनके सभी भाई-बहन उन्हें चांदीख़ाना के हवाले से 'चांदीअब्बा' कहते थे. मेरी ससुराल और चांदीख़ाना के बीच सिर्फ़ एक दीवार की दूरी है. अमलन यह दूरी घटती-बढ़ती रहती है. 'चांदीअब्बा' का चांदी के प्याले जैसा गोल सर अब वहां नहीं चमकता.

ज़िया साहब के मकान के उल्टे हाथ पर रामजीदास वकील का तिमंज़िला घर दूर से दिखता है. रामजी मेरे बचपन के दोस्त हैं. लड़कपन की किताबें हम दोनों ने साथ पढ़ी हैं. क़रीब बीस-बाइस, बल्कि तीस साल पहले उनके बाहरी कमरे में प्रदीप कुमार नाम के एक जवान आकर रहे थे. किताबों में उनकी ख़ास दिलचस्पी थी. रामजीदास ने इस दिलचस्पी को नज़र में रखते हुए उनसे मेरा तआरुफ़ करवाया. उन्होंने मुझे वीरेन्द्र यादव से मिलवाया. वीरेन्द्र और प्रदीप लखनऊ यूनिवर्सिटी में साथ पढ़ते थे. वीरेन्द्र यादव तक़रीबन रोज़ प्रदीप के यहां आते थे. दोनों में अक्सर तीखी बहसें होती थीं. प्रदीप कुमार आज प्रिण्ट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का बड़ा नाम है. आलोचना में इधर वीरेन्द्र का नाम भी चल निकला है. तब से पी.डब्लू.ए. की गोल्डेन जुबिली (1986) तक वीरेन्द्र से मेरी दोस्ती ने कई तख़्लीक़ी मोड़ तय किये. वह तब भी काफ़ी पढ़ते थे. मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा. समी' मंज़िल के दायरे से निकाल कर हिन्दी अदब की वसीअतरीन दुन्या तक लाने का श्रेय उन्हें ही जाता है. तरक़्क़ीपसंद तहरीक की गोल्डेन जुबिली तक़रीबात के दिनों में मेरे उनके बीच पैदा हुए इख़्तिलाफ़त ने ऐसा रुख़ इख़्तियार किया कि मेरे उनके बीच मुकालमा तक़रीबन नामौजूद है. हालांकि हम दोनों अब भी एक ही तंज़ीम में हैं.

लाज़िमी तौर पर रिश्तों की बक़ा या शिकस्तगी महज़ मुकालमों पर मुन्हसिर नहीं होती. ज़िया साहब का भांजा जमाल फ़ारूक़ी मेरा सबसे पुराना दोस्त है. 59-60, छठी क्लास में मैं पढ़ता था. वह पाँचवीं में था, तब हमारी दोस्ती हुई थी.

अग़ल-बग़ल रहने की वज्ह से बहुत कम मौक़े ऐसे होते थे, जब हम एक दूसरे से दूर होते. वह पढ़ने में तेज़ था, मैं कमज़ोर. बतौरे-साइंस दां आज वह फ़िलाडेल्फ़िया में है, जहां काम के घण्टों की तारीख़ी जिद्दोजहद की पहली हड़ताल (1848) हुई थी. उसकी अहलिया अदाकार नसीरूद्दीनशाह के अज़ीज़ों में है. एक बार जब वह अपने घर आया हुआ था, मुझसे भी मिलने आया, मअ बीवी के! मैंने उसकी तरफ़ एक किताबचा बढ़ाते हुए कहा था, "देखो जमाल, मैंने काम के घण्टों की लड़ाई पर यह किताब लिखी है, जिसकी शुरुआत वहीं से हुई थी, जहां आज तुम रहते हो....."

उसने शौक़ से किताबचे को देखा था और कहा था, "इसे मैं अमेरिका ले जाऊंगा."

ग़ालिबन मेरी उसकी वह आख़िरी मुलाक़ात थी. वह मुझसे मिलने से बचने लगा था या मैं उससे, कह नहीं सकता. लेकिन दोस्तियां न मिलने से ख़त्म नहीं हो जातीं, एक चिराग़ की तरह अब वह रौशन रहता है मेरे दिल में! एक ख़ातून हैं, मेरे बचपन की शनासा. मुझे वह काफ़ी अज़ीज़ रखती थीं. लन्दन से जब कभी वह आतीं, तो मैं घर से ग़ाइब हो जाता. तो क्या सचमुच मैं उनसे मिलना नहीं चाहता था? जमाल से तो उसकी बेटी ग़ज़ल के अक़ीक़ा में मुलाक़ात हो गयी थी. इनसे कब होगी, नहीं जानता.

ज़िया साहब के बहाने से एक यादगार दोपहर और एक दिलफ़रेब शख़्सियत का ज़िक्र और कर दूं. टी.वी. सीरियल 'चरित्रहीन' के निर्माता, फ़िल्मकार, कहानीकार और मूसीक़ार जनाब कृष्ण राघव कमाल के आदमी हैं. उनकी शख़्सियत जितना खींचती है, उतना मुतास्सिर भी करती है. सत्तर की दहाई शुरू होने के थोड़ा बा'द वह लखनऊ आये थे. यहां उन्होंने ऑडियो विजुअल्स की एक अंजुमन बनाई. फ़िराक़ साहब के भाई, शिवपति सहाय जी के बंगले (लालबाग़) के ऊपरी हिस्से में ऑफ़िस क़ाइम किया. अंजुमन का इफ़्तिताह उस्ताद अली अकबर ख़ां के सरोद वादन से हुआ. मुझे इस्तिक़बालिया कमेटी का कन्वेनर होने की इज़्ज़त दी गयी. शाइर और नक़्क़ाद जनाब शहंशाह मिर्ज़ा, मोहम्मद मस्ऊद, ज़ेबा अलवी, फ़रीदा अलवी, वक़ार नासिरी वग़ैरह के साथ मेरी भी शामें अक्सर उनके ऑफ़िस में गुज़रने लगीं. इस बहाने हम लोगों की मुलाक़ात कभी-कभी फ़िराक साहब से भी हो. जाती, जो उस अर्से में वहां आये हुए थे—ज़ेबा या फ़रीदा ही उनसे हम लोगों के तआरुफ़ का ज़रीआ थी. राघव को वो कैसे जानती थी, अब मुझे याद नहीं. ज़ेबा उन दिनों उर्दू अकादमी में स्टेनो थीं, शहंशाह मिर्ज़ा ऑफ़िस सुप्रिटेंडेंट. मिर्ज़ा मोहम्मद काज़िम, अज़हर मस्ऊद, अनीस अशफ़ाक़, बाक़र ज़ैदी वग़ैरह भी वहीं मुलाज़िम थे. विभूतिनारायण राय शहंशाह मिर्ज़ा से मिलने अक्सर वहां आते थे. अलाईड सर्विसेज़ में नये-नये आये शीसख़ान से ज़ेबा की शादी कराने में उनका अहम रोल था. ज़ेबा बा'द में कराची चली गयीं

और हसन आबिद साहब के पर्चे 'इर्तिका' की मज्लिसे-इदारत में शामिल रहीं. मोहर्रम के दिन थे, आठवीं या नवीं तारीख़ को मुझे बताया गया कि दिल्ली से कृष्ण राघव की श्रीमतीजी और साली सुब्ह से शाम तलक के लिए लखनऊ आ रही हैं और वो राघव के लखनवी दोस्तों के साथ बैठना और कुछ सुनना-सुनाना चाहती हैं. वह गाती बहुत अच्छा थीं, उनकी बहन जे. एन. यू. में एस.एफ.आई. की सेक्टिविस्ट थीं. राघव तो गा-बजा भी लेते हैं. कुछ साल पहले 'हंस' में उनकी ज़ोरदार तवील कहानी छपी थी ! जिस दिन वह आ रही थीं, उस दिन मोहर्रम का अशरा था. पुराने लखनऊ में भला किसकी हिम्मत थी, उस रोज़ गाने-बजाने की महफ़िल सजाने की. मैंने अपनी ख़िदमात पेश कीं. समी' मंज़िल के सबसे नीचे वाले कमरे में, जो ज़िया साहब के मकान की तरफ़ खुलता है, महफ़िल आरास्ता हुई, इस शर्त के साथ कि सुनने-सुनाने का सुर नीचा रहेगा. भरी दोपहर थी. बहुत-से लोग जमा हुए. नाम गिनाने से शायद कुछ लोग बुरा मान जायें, इसलिए उससे बच रहा हूं. बहरहाल शहंशाह मिर्ज़ा, मोहम्मद मस्ऊद, शाहनवाज़ क़ुरैशी, वक़ार नासिरी, अनीस अशफ़ाक़, क़मर आग़ा, सरदार दीवाना, ज़ेबा अलवी, फ़रीदा, वग़ैरह के नाम तो गिना ही सकता हूं. किसी ने नज़्म सुनाई, किसी ने ग़ज़ल. राघव और उनकी बीवी के गले की मिठास हमारे दिलों में गहरे तक उतर गयी. वह ग़म का दिन था. हम गा-बजा कर उससे कहां नजात पाने वाले थे. राघव हम लोगों से जुदा होने जा रहे थे. जैसे ज़िया साहिब कनाड़ा वापस जाते हुए अपने अज़ीज़ों से जुदा हुए थे. अशरे के दिन उनके यहां ज़ोरदार खिचड़ा पकता था.

ज़िया साहिब की चीज़ें मुझे बहुत कम पढ़ने को मिलती थीं. पाकिस्तान के या फिर यूरोप के मख़्सूस इलाक़ों से निकलने वाले रिसाले जब कभी हाथ लग जाते तो उनकी शे'री तख़्लीक़ात अगर उनमें छपी होतीं तो पढ़ने को मिल जातीं. उन्होंने 'किताबनुमा' (दिल्ली) के एक शुमारे में मेहमान इदारिया भी लिखा था. सरवरक़ पर उनकी मुस्कराती हुई तस्वीर थी. नब्बे की दहाई में जब मेरा 'मंशूर', कराची से राबिता हुआ तो उसमें वह अक्सर दिख जाते. उनके मुरासले अक्सर उसमें शाए' होते थे. ग़ज़लें-नज़्में भी. उनकी इन सरगर्मियों से मुझे यह मसर्रत आमेज़ वाक़्फ़ियत हुई कि वह ख़यालात से मॉर्डन और तरक़्क़ीपसंद थे. उनकी सबसे छोटी हमशीरा मुहतरमा ज़ेबा सलाहुद्दीन ने एक बार मुझे उनका मज्मूआ पढ़ने को दिया था. थोड़े वक़्फ़ा बा'द उन्होंने मुझे उनकी एक बहुत ख़ूबसूरत, सुनहरी हर्फ़ों में छपी एक किताब दिखाई थी, ग़ालिबन उनका इन्तिख़ाब था. उन्हें पढ़कर, उनकी तस्वीरें देखकर और उनके बारे में सुनकर मुझे अच्छा लगता है. मुझे जानते हुए भी वह इस हक़ीक़त से नावाक़िफ़ थे कि मैं उनका फ़ैन हूं और उनसे अक़ीदत रखता हूं. लेकिन वक़्त की नासाज़गारी तो देखिये. उनके मुतअल्लिक़ीन से मैं उनकी मौत पर ता'ज़ियत भी नहीं कर पाया.

ज़िया साहब के मकान में अब कोई नहीं रहता. वहां हू का आलम है. उनके व उनकी बहन के मकानों और उनके सामने पड़ने वाले हाते को बचपन के दोस्त रामजीदास ने ख़रीद लिया है. उस हाते में जिससे ज़िया साहब का जज़्बाती तअल्लुक़ था, जहां उनके वालिद साहब की शामें गुज़रती थीं. भांजे-भांजियां खेलती थीं. जहां हमारे व उनके घरों की बहुत-सी तक़रीबात हुईं. जहां अलीम साहब ने सिगार के कश खींचे और जहां से जब मेरे बड़े अब्बा इशा की नमाज़ पढ़ने गुज़रते तो उनका सिन्धी अर्दली राधेमल लालटेन लेकर दौड़ता, "साहब को कहीं ठोकर न लग जाये !"

उस हाते में एक आलीशान मन्दिर बस अब तकमील को पहुंचने ही वाला है. वालिदा बता रही थीं, कुछ दिन पहले ज़िया साहब का बेटा आया था, उसने सभी घरों की अन्दर-बाहर से तस्वीरें ली, पता नहीं मन्दिर की तस्वीर उसने ली या नहीं ? ❑

MIG-317, फ़ेज़ दो, टिकैत राय योजना, लखनऊ-226017

शफ़ीक़ा फ़र्हत की पीएच. डी.

—कान्तिकुमार जैन

शफ़ीक़ा फ़र्हत उर्दू की तन्ज़निगार और अफ़्सानानिगार हैं. उर्दू अदब में उनका नाम व काम जाना-पहचाना है. और कांतिकुमार जैन साहिब शायद रिटायरमेंट के बा'द संस्मरणों की पीएच. डी. के दावेदार हो चुके हैं. गोया यादों का सैलाब उनके पीछे पड़ा है. और उस सैलाब से वो सबको सैराब कर रहे हैं.

अब्बा जी को अंत तक विश्वास नहीं हुआ कि उनकी बेटी शफ़ीक़ा फ़रहत (फ़र्हत) पीएच. डी. हो गयी हैं.

अब्बा जी या'नी जनाब रुस्तम ख़ां साहब. पुराने मध्यप्रदेश के डी.आई.जी.. वे नागपुर में अपराध शाखा के डी.आई.जी. थे. गृहमंत्री द्वारका प्रसाद मिश्र के विश्वास पात्र. ज़िन्दगी भर चोरों-उचक्कों, बदमाशों, तस्करों, हत्यारों और सटोरियों से वास्ता रखने के कारण वे किसी भी मामले की तफ्तीश अविश्वास से प्रारंभ करते. भारत में अपराधों की जाँच पड़ताल की प्रक्रिया और दंड संहिता की बनावट ही ऐसी है कि पुलिस अधिकारियों और न्यायाधीशों को यही प्रशिक्षण दिया जाता है कि वे मामले की छानबीन अविश्वास से शुरू करें. लोअर कोर्ट से हाई कोर्ट और हाई कोर्ट से सुप्रीम कोर्ट में अपील का मूलभूत कारण भी यही अविश्वास है. सो जब डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल ऑफ़ पुलिस अब्बा हुज़ूर की नेक दुख़्तर शफ़ीक़ा फ़रहत को जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर ने सितम्बर 76 में पीच.डी. से नवाज़ने की चिट्ठी भेजी, तो शफ़ीक़ा तो ख़ुश हुईं पर अब्बी जी बोले—यह ग़ैर मुम्किन है. वज्ह एक नहीं, कई थीं—वजूह. पहिली तो यही कि शफ़ीक़ा उर्दू की एम.ए. हैं. और डिग्री उन्हें हिन्दी में मिली है, दूसरी यह कि शफ़ीक़ा भोपाल में उर्दू की प्रोफेसर हैं और यह यूनिवर्सिटी—क्या तो भला सा नाम है, जीवाजी-ग्वालियर में हैं. तीसरी यह कि जनाब कान्तिकुमार जैन जिनका नाम गश्तीख़त में बतौर सुपरवाइजर दर्ज है, हिन्दी के उस्ताद हैं. उर्दू से उनका क्या वास्ता और चौथी यह कि शफ़ीक़ा ने जिस मज़्मून पर पीएच.डी. जैसी

आ'ला डिग्री हासिल की है—"नज़ीर अकबराबादी की हिन्दी कविता और उर्दू शाइरी" वह पहिली नज़र में ही ग़लत है. अब यह भी कोई टॉपिक हुआ ? गर यह उन्वान हिन्दी का है, तो उर्दू का इससे क्या वास्ता और गर उर्दू का है तो हिन्दी इसमें बिल्कुल बेमा'नी है. शफ़ीक़ा फ़रहत भोपाल के एम.एल.बी. कॉलेज में उर्दू की प्रोफ़ेसर थीं, हैड ऑफ द डिपार्टमेंट. उन्होंने डिग्री मिलने की ख़ुशी में शाम अपनी सारी कलीग्ज़ को दावत दी थी, बतौर उस्ताद मुझे भी ग्वालियर से शिरकत फ़रमाने को कहा था. मैं एक दिन पहिले ही पहुँच गया था. शफ़ीक़ा के यहाँ पहुँचा तो वातावरण बेहद तनावपूर्ण था. अब्बाजान शफ़ीक़ा को समझाइश दे रहे थे, "देख शफ़ीक़ा, मैंने ज़माना देखा है, तूं ठहरी भोली, औरत जात. मैं अब भले रिटायर हो चुका हूँ पर पेशे के ऊँच-नीच समझता हूँ. तू सरकारी मुलाज़मत में है—गज़ेटेड ऑफ़िसर. अगर कोई कोर्ट-कचहरी का मामला हो गया तो मैं तुझे बचा नहीं पाऊंगा. तू मेरी नेक सलाह मान. तू पीएच.डी. हो गयी होगी पर अपने नाम के आगे भूल के भी डॉक्टर लिखने की हिमाक़त मत कीजियो. कोई भी पुलिस में शिकायत कर देगा या तेरे डिपार्टमेंट को लिख देगा तो तुझे लेने के देने पड़ जायेंगे. तू दफ़ा 420 आई.पी.सी. में धर ली जायेगी. तेरी नौकरी जायेगी सो अलग. देखती नहीं, आये दिन रोज़ ही विकरम शिला, नालंदा जैसी यूनिवर्सिटियों की नक़ली डिगरियों के मामलों से अख़बार भरे रहते हैं. बेटी, मैं रिटायर हुआ. सब जानते हैं कि तू मेरी बेटी है, ज़िंदगी भर जो इज़्ज़त कमाई है, उस पर बट्टा लग जायेगा."

शफ़ीक़ा ठहरीं अब्बा जान की बेटी. उनके सामने मुँह क्या खोलती ? वो उनको ख़ूब जानती थीं. जब तक शक की बिना पर पकड़े गये मुजरिम से उसका जुर्म क़बूल न करवा लें, उनको चैन नहीं पड़ता था सो अब्बा जान को समझाने का ज़िम्मा मुझे मिला. मैंने कहा—जीवाजी यूनिवर्सिटी का नोटिफ़िकेशन बतौर गाइड मेरे पास भी आया है. न हो तो आप जीवाजी के वायस चांसलर गोविन्द नारायण टंडन साहब को टेलीफ़ोन कर इत्मीनान कर लें. अरे साहब, आप भी कैसी बातें करते हैं ! मैं इनसे, उनसे पूछकर अपनी हँसी उड़वाऊँ क्या ? जो जुर्म दिन दहाड़े हुआ हो, सरे बाज़ार, उसके लिये गवाही-साखी क्या जुटानी ? अब्बा जी को समझाना मुश्किल हो रहा था. वे बार-बार यही दुहराते, ज़रूर कोई साज़िश है. कहते—कांतिकुमार साहब, आप भी इस मामले से तर्क कर लीजिये. क्यों बेकार ही इल्लत मोल लेते हैं. वे रिटायर ज़रूर हो गये थे पर उनकी हाकिमाना बू अभी तक गयी नहीं थी. हफ़्ते में जुम्ए को वे ख़ाकी वर्दी पहिनते, अपने पीतल के सितारों पर ब्रासो करते, जूते और बेल्ट चमकाते, बेटन घुमाते. बैठते भी तो अकड़े-अकड़े रहते. वो दिन संयोग से जुम्मा (जुम्आ) ही था. उस दिन अब्बा हुज़ूर रुस्तम ख़ां कम, डी.आई.जी. साहब ज़ियादा लग रहे थे. कहने लगे—न हुआ मैं सर्विस में, दो दिन में सारी साज़िश का पर्दाफ़ाश करके रख देता.

उनको समझाना मुश्किल था. ग़ालिब ऐसी मुसीबत से गुज़र चुके थे. उन्हें भी आख़िर कहना पड़ा था :

या रब, वो न समझे हैं, न समझेंगे मिरी बात
दे और दिल उनको जो न दे मुझको ज़बां और

मैंने भी हार नहीं मानी. मुझे उस मध्य कालीन कवि का वह दोहा याद आया जिसमें उसने मेरी जैसी हालत में फँसकर कहा था :

करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान
रसरी आवत जात तें सिल पर परत निसान

मैंने संग-जान अब्बा जी पर निशान डालने की ग़रज़ से शफ़ीक़ा से कहा कि वो अपनी फ़ाइल से जीवाजी विश्वविद्यालय के पीएच.डी. का आर्डीनेंस निकालें. मैंने आर्डीनेंस का वह क्लॉज़ अंडर लाइन किया जिसमें वो सब तफ़्सीलात दर्ज थीं जिनके तहत शफ़ीक़ा ग्वालियर में आज से तीन बरस पहिले पीएच.डी. के लिये रजिस्टर हुई थीं. मैंने अब्बा जी को उसी क्लॉज़ की वह पेशकश भी बतायी जिसके तहत किसी फ़ैकल्टी के किसी भी विषय का पोस्ट ग्रेजुएट डिग्री याफ़्ता उसी फ़ैकल्टी के किसी भी दूसरे विषय में पीएच.डी. कर सकता है और जिसके तहत तालिबे-इल्म से केवल यह दरकार थी कि वह अपनी थीसिस किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में लिखेगा. आर्डीनेंस के 0.15.15 अनुच्छेद में लिखा था कि शर्त केवल इतनी होगी कि थीसिस का रस्मुलख़त देवनागरी या रोमन होगा. अब मैंने बतौर शफ़ीक़ा के वकील, अब्बा हुज़ूर के इज्लास में अपनी जिरह कुछ इस तरह शुरू की :

1. शफ़ीक़ा फ़रहत उर्दू की एम.ए. हैं नागपुर यूनिवर्सिटी की. कहिये हाँ कि ना. अब्बाजी ने फ़रमाया, बिला शक, बिल्कुल.
2. उर्दू की तरह हिन्दी भी आर्ट्स फ़ैकल्टी में है. है कि नहीं ? अब्बा जी बोले– बिल्कुल है.
3. मैं आगे बढ़ा और प्रश्न नं. तीन पर आया.

अब्बा जी, शफ़ीक़ा ने अपनी थीसिस उर्दू में लिखी है जो एक आधुनिक भारतीय भाषा है. अब्बा जी अपने नागपुर के सेवाकाल में मुक्तिबोध जैसे साहित्यकारों के बीच उठते बैठते थे, इसलिये 'आधुनिक' शब्द से परिचित थे. फिर भी मैंने स्पष्ट किया, आधुनिक यानी जदीद. मॉर्डन. अब्बा जी इससे भी सहमत हुए. मैंने जिरह का घेरा थोड़ा और कसा. कहा, अब उर्दू भाषा में लिखी थीसिस का रस्मुलख़त देवनागरी है. यह भी बज़ाब्ता आर्डीनेंस है. मैंने अब्बा जी के मुक़द्दस हाथों में उपकुल सचिव का 10.2.76 को लिखा वह पत्र थमा दिया जिसमें साफ़ लिखा था कि 'शोध उपाधि समिति द्वारा अपनी बैठक 2.2.76 में लिये गये निर्णयानुसार आप अपना शोधप्रबंध उर्दू भाषा एवं देवनागरी लिपि में प्रस्तुत कर सकती हैं.' अब्बा जी बारीक आदमी थे,

अफ़सर भी ऐसे-वैसे नहीं, आई.पी.एस. थे. उन्होंने काफ़ी देर तक उस पत्र को देखा, उल्टा-पुल्टा. वे जैसे थाने में रोज़नामचा में एफ.आई.आर. देखा करते थे.

जब वे यह सब देख चुके तो उन्हें अचानक हिन्दी की एक पुरानी कहावत याद आयी—पंचों का कहना सिर माथे पर परनाला वहीं बहेगा. वे कहावतों के शौक़ीन थे और अपनी बात के समर्थन में हिन्दी या उर्दू की कहावतें पेश करना उनकी पुरानी आदत थी. फ़रमाया, देखिये कान्तिकुमार साहब, यह सब तो ठीक है पर मैं तो इतना भर जानता हूँ कि उर्दू वाला हिन्दी में पीएच.डी. नहीं कर सकता. जो करेगा वो ताज़ीराते—पीएच.डी. की ख़िलाफ़वर्ज़ी करेगा.

अब मैं क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आया. मैं उनका दिल नहीं बदल पा रहा था, न अपनी ज़ुबान. सहसा बिल्ली थैले से बाहर आ गयी. अब्बा जी उर्दू शाइरी के भी बेहद शौक़ीन थे. बात-बात में वे ग़ालिब, ज़ौक़, मीर का हवाला देते. कहने लगे, शफ़ीक़ा ने ग़ालिब या मीर पर खोज की होती तो भी मैं मान लेता, फ़िराक़ भी क़ाबिले-बरदाश्त हैं पर ये नज़ीर, ये नज़ीर अकबराबादी भी कोई शाइर है ! उर्दू वाले नज़ीर की गिनती शाइरों में करते ही नहीं. 'क्या क्या मची है यारो, बरसात की बहारें—' हुँह, ये भी कोई शाइरी हुई ! मैंने बिल्ली देखी तो मैं समझ गया कि इस बिल्ली के लिये थैला किसने फ़राहम किया होगा अब्बा जी को. भोपाल में उस समय जितने भी महाविद्यालीन नक़्क़ाद थे या रिसर्च गाइड करने की सलाहियत वाले 'पुरफेसरान' थे, सब ऊँचे मैं'यार के आलिम थे, जब तक शाइरी में ऊंचे ख़यालात न हों, हुस्नो-इश्क़ के बयान न हों; तब तक वे किसी को पायेदार शाइर तस्लीम करते ही न थे. उन्हें इस बात का भी सख़्त रंज था कि उर्दू की कोई उस्तानी किसी हिन्दी वाले के अंडर पीएच.डी. करें. भोपाल में उर्दू फ़ारसी के गाइडों की कमी है क्या ? कमी तो नहीं थी पर शफ़ीक़ा फ़रहत को पीएच.डी. कराना उन्हें अपने पैरों में अपने ही हाथों कुल्हाड़ी मारने जैसा लगा था.

शफ़ीक़ा नागपुर यूनिवर्सिटी की एम.ए. थीं, उर्दू में. उनका एकेडेमिक रिकॉर्ड बहुत शानदार था. उस ज़माने में नौकरी में रहते हुए कोई पीएच.डी. करता तो उसको शासन की ओर से दो वेतन वृद्धियां मिलतीं और वह वरिष्ठताक्रम में ऊपर हो जाता. भोपाल में जितने भी उर्दू, फ़ारसी, अरबी के रिसर्च गाइड थे, शफ़ीक़ा सब से उनको अपने अंडर की पीएच.डी. करवाने का निवेदन कर चुकीं थीं पर सब भविष्य द्रष्टा थे. जानते थे कि शफ़ीक़ा के नाम के पहिले पीएच.डी. जुड़ जाने का उनके लिये क्या दुष्परिणाम होगा. वे सीनियरटी के पायदान पर नीचे खिसक आयेंगे.

भोपाल के दिनों में मैं शफ़ीक़ा फ़रहत का पड़ोसी था. मैं वहाँ ग़ालिब सेनटेनरी सेलीब्रेसन कमेटी का भी उपाध्यक्ष था, उर्दू की नशिस्तों में भाग लेता. शफ़ीक़ा मुझे राखी बांधती थी. मेरी बेटियां उन्हें आपा मौसी कहतीं. एक राखी पर जब वे मुझे पीढ़े

पर बिठाकर मेरा टीका कर चुकीं तो मैंने उनसे पूछा—आपा, इस बार राखी पर आपको क्या चाहिए ? आपा बड़े दुःख से बोलीं—आपकी सारे विश्वविद्यालय के लोगों से बहुत पहिचान है. यहां से तो मैं कभी पीएच.डी. कर नहीं पाऊंगी—आप कहीं और से, ग्वालियर से, इंदौर से—कहीं से भी मेरे लिये एक सुपरवाइजर तज्वीज़ कर दीजिए.

मैंने उस दिन तो आपा को चंदेरी की साड़ी दी पर उनकी बात मेरे मन में अटकी रह गई. मैं ग्वालियर वापिस पहुँचा और अपने कॉलेज के स्नेह सम्मेलन में व्यस्त हो गया. कॉलेज की प्राचार्या श्रीमती उमा जौहरी बहुत पढ़ी-लिखीं और आधुनिक विचारों की महिला थीं. उन्होंने अंतर्जातीय विवाह किया था. इलाहाबाद की थीं. रंगमंच और नाटकों में उनकी बड़ी रुचि थी. उस वर्ष उन्होंने मंचन के लिये जो ड्रामा पसंद किया था, वह था—राखी की लाज. रानी कर्णावती द्वारा हुमायूं बादशाह को राखी भेजने का प्रसंग था. ड्रामा शायद डॉ. रामकुमार वर्मा ने लिखा था. हुमायूं को हिन्दुस्तान का बादशाह बने बहुत अर्सा नहीं हुआ था पर वह हिन्दुस्तान के रीति रिवाजों से वाक़िफ़ हो चला था. जब रानी कर्णावती ने अपनी रक्षा के लिये हुमायूं को राखी भेजी तो बादशाहे-हिन्दोस्तां को अपना कर्तव्य तय करने में देर नहीं लगी. उसने कर्णावती की राखी क़बूल की और उसकी रक्षा का वचन दिया. मंच पर बड़ा मार्मिक दृश्य था जब हिन्दुस्तान के शहंशाह ने सफ़ीर के हाथों भेजी गई राखी अपने माथे से लगायी और कहा, आप अपनी रानी से कह दें कि बादशाहे-हिन्दोस्तां राखी की लाज रक्खेगा और अपनी बहिन को रुस्वा नहीं होने देगा. बेहद तालियां बजीं. मुझे शफ़ीक़ा आपा की याद आयी. काश ! मैं हुमायूं होता और आपा की राखी की लाज रख सकता.

कुछ दिनों बाद मैं जीवाजी विश्वविद्यालय के कला संकाय का अधिवष्ठता हो गया. सारे नियम, अध्यादेश नये सिरे से पढ़े. अरे यह क्या ? अध्यादेश में राखी की लाज निभाने का रास्ता लिखा था. सारे ब्यौरों के साथ. शफ़ीक़ा फ़रहत जीवाजी विश्वविद्यालय की पीएच.डी. के पंजीयन की सारी अर्हताएं पूरी करती थीं. ग्वालियर के कुलपति जनाब गोविंद नारायण टण्डन उर्दू के प्रेमी थे. उनके कुलपतित्व काल में उर्दू के किसी शाइर पर ऐसी अन्तरानुशासनात्मक, अन्तर भाषायी पीएच.डी. हो रही है, जान कर वे प्रसन्न हुए. वे मुझसे प्रभावित थे. हुआ यों था मैंने एक शोध-छात्र को डॉ. कोमल सिंह सोलंकी के निर्देशन में पीएच.डी. का विषय सुझाया था, 'आधुनिक हिन्दी काव्य में कृष्ण का चरित्र चित्रण.' सोचा था कि छात्र 'प्रिय प्रवास' से लेकर 'अंधा युग' तक और 'द्वापर' से लेकर 'कनुप्रिया' तक के कृष्ण विषयक प्रबंधों और गीतों को अपने शोध प्रबंध में समेट लेगा पर कुलपति जी ने डॉ. सोलंकी और शोध छात्र के दबाव में आकर विषय बदल दिया अपने विशेष अधिकार का उपयोग करते हुए—"आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में कृष्ण का चरित्र चित्रण" यों भी हिन्दी को विश्वविद्यालय के अधिकारी ग़रीब की लुगाई समझते हैं और उससे सारा गाँव भौजाई

का रिश्ता निभाने को तैयार रहता है. कुलपति जी को समझाया गया कि आधुनिक हिन्दी काव्य छोटा विषय है, यदि वह बदल कर आधुनिक हिन्दी महाकाव्य कर दिया जाये तो उसका स्कोप बढ़ जायेगा. 'मैं बड़े विषय पर कार्य करवाना चाहता हूँ और मेरा शोध छात्र भी श्रम करने को तैयार है.' टंडन साहब ख़ुश. शोध छात्र उनसे ज़ियादा खुश पर सबसे ज़ियादा ख़ुश सोलंकी जी. कम ख़र्च बाला नशीं. 'प्रिय प्रवास' कृष्ण विषयक आधुनिक हिन्दी में एकमात्र महाकाव्य है सो ज़ियादा किताबें नहीं देखनी पड़ेंगी. टंडन साहब अर्थशास्त्र के अध्यापक रह चुके थे. सोलंकी ने टंडन साहब को समझा बुझाकर विषय में परिवर्तन तो करवा लिया था पर इस परिवर्तन का अनुमोदन विद्वत् परिषद से होना आवश्यक था. यह क्या बड़ी बात है. विद्वत् परिषद के अध्यक्ष कुलपति जी ही होते हैं फिर सोलंकी साहब ग्वालियर के एक निजी महाविद्यालीन प्राचार्य होने के नाते परिषद की बैठक में होंगे ही. कुलपति जी ने विषय परिवर्तन की सूचना विद्वत् परिषद को दी और वे 'नेक्स्ट आइटम' कहने ही वाले थे कि मैंने उठकर कहा कि इस विषय परिवर्तन से विषय की परिधि बहुत सीमित हो गयी है और यह सीमित विषय पीएच.डी. के लिये पर्याप्त नहीं रह गया है. वे उखड़ गये. बोले–हिन्दी वालों के साथ यही कठिनाई है. आप लोग बहुत पॉलिटिक्स करते हैं. मैंने तो विषय का स्कोप बढ़ाया ही है. काव्य, काव्य 'is a small thing. मैंने कहा भी कि महाकाव्य काव्य का हिस्सा होता है पर वे बज़िद थे. सिखाये दूत दरबार चढ़ तो गये थे पर वे वहां टिक पायें कि मैंने कुतर्क का सहारा लेना ज़रूरी समझा. अनुभव से मैंने जाना है कि जहां तर्क की बारीक सुई काम नहीं आती वहां कुतर्क की तलवार–भले ही वह भौंथरी हो–कारगर वार करती है. हिन्दी बुद्धिजीवी को आप तर्क से नहीं समझा सकते. वह कुतर्क से ही समझता है. अब तक सोलंकी जी कुलपति जी के पक्ष में खड़े हो गये थे, बड़े प्रेम से बोले–कान्ति भाई, कुलपति जी ठीक कह रहे हैं महा means great, big. मैंने उन से प्रति प्रश्न किया, भरी सभा में, माननीय अध्यक्ष महोदय के माध्यम से मैं विद्वान् मित्र से जानना चाहता हूँ कि राष्ट्र बड़ा होता है कि महाराष्ट्र ? सोलंकी जी पर तलवार का वार भरपूर बैठा. कुलपति टंडन जी पर भी. वे समझ गये कि कहीं कुछ ग़लत हो गया है. वे समझदार थे, बहुत बुद्धिमान. बोले–ऑफ़कोर्स राष्ट्र. मैंने बिना समय गंवाये निवेदन किया–इसी तरह काव्य महाकाव्य से बड़ा होता है. टंडन साहब ने भरी सभा में अपनी ग़लती स्वीकार की. खेद प्रकट किया और ग़लती की ओर इशारा करने के लिये मुझे धन्यवाद दिया.

जब टंडन साहब ने शफ़ीक़ा फ़रहत के प्रकरण में प्रारंभिक एतराज़ किया था तो मैंने उन्हें संमुख पीएच.डी. आर्डीनेंस की वे सारी कंडिकाएं प्रस्तुत कर दीं थीं जिन पर मैंने ध्वज लगा रखे थे. उन्होंने उपकुल सचिव (शोध) दीक्षित जी की ओर देखा. दीक्षित जी बोले–आज तक तो ऐसा हुआ नहीं. मैंने कहा कि मेरे पूर्ववर्त्तियों के अज्ञान

की सज़ा मुझे या मेरे शोध छात्र को नहीं दी जा सकती. उन्होंने शोध अध्यादेश का सूक्ष्म परीक्षण किया और मिस शफ़ीक़ा फ़रहत, एम.ए., सहायक प्राध्यापक, उर्दू, महारानी लक्ष्मी बाई कॉलेज, भोपाल को जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर की पीएच.डी. (कला संकाय) के लिये पंजीयत किये जाने की सूचना भेज दी. विषय था–''नज़ीर अकबराबादी के हिन्दी काव्य और उर्दू शाइरी का अध्ययन.'' पंजीयन का जो आदेश उनको मिला, उसमें यह शर्त ज़रूर आयद थी कि प्रबंध देवनागरी लिपि में प्रस्तुत करना होगा. देवनागरी उनको नहीं आती थी पर यह समस्या कोई बड़ी समस्या नहीं थी. मैंने उनसे कहा कि आप अपनी थीसिस का प्रारूप उर्दू भाषा में और उर्दू रस्मुलख़त में ही तैयार करें. वे ग्वालियर आतीं और अपने चैप्टर मुझे सुनातीं. मैं उसमें आवश्यक होने पर संशोधन सुझाता जाता. उर्दू रस्मुलख़त पढ़ने और लिखने में अब मुझे थोड़ी कठिनाई होने लगी थी. अपने बचपन में सन् 40-42 के आसपास मैंने उस्ताद कतवारू राम से उर्दू लिखना और पढ़ना सीखा ज़रूर था पर वह सब मैं अब तक भूल चुका था. हां, उर्दू समझना मेरे लिये क़त्तई कठिन नहीं था. मैंने उर्दू की बहुत-सी शाइरी और उपन्यास-कहानियाँ देवनागरी में पढ़ी थीं. अब्दुल मद्दाह और रामचन्द्र वर्मा के उर्दू-हिन्दी शब्दकोश भी मेरे पास थे. अपनी थीसिस का मवाद इकट्ठा करने के लिए शफ़ीक़ा अलीगढ़ गयीं, दिल्ली गयीं, हैदराबाद गयीं, पटना गयीं, रामपुर गयीं और आगरा तो वे महीनों रहीं. ताजगंज के गलीकूचों की तो उन्होंने ख़ाक ही छान डाली. वे ताजगंज के भिश्तियों, मल्लाहों, मुर्ग़ी पालने वालों, नानबाइयों, रीछ नचाने वालों, संग तराशों, चना ज़ोर गरम बेचने वालों, टकैलों से भी मिलीं. नज़ीर ने अपने शहर-आसोब में जिन 36 पेशेवालों का ज़िक्र किया है–उन सभी से मिलने की उन्होंने कोशिश की पर उन्हें 28 पेशों के लोग तो मिले, आठ का पता नहीं चल पाया. ताजगंज में हर साल भरने वाले मेले में भी वे गयीं. नज़ीर की शाइरी को 'फ़ील' करने के लिए, नज़ीर के ज़माने को समझने के लिए, नज़ीर की ज़ाती ज़िंदगी के एहसास के लिए वे नज़ीर के वंशजों से भी मिलीं. उर्दू में नज़ीर पर जितना कुछ था, वो उन्होंने स्वयं पढ़ा, जो देवनागरी हिन्दी में था उसके लिये उन्होंने अब्बा जी की मदद ली. अब्बा जी पुराने मध्यप्रदेश में अंग्रेज़ों के ज़माने के अफ़सर थे. वहां हर अफ़सर को अंग्रेज़ी तो आती ही थी, पदोन्नति के लिये हिन्दी और मराठी भी सीखनी पड़ती, इसे डिपार्टमेंटल एकज़ामिनेशन कहते थे. उर्दू उन्होंने बचपन से पढ़ी थी. अब्बा जी को नज़ीर की शाइरी इतनी पसंद आयी कि वे हिन्दी देवनागरी में नज़ीर की नज़्में उतारने लगे. उन्हें नज़ीर का शहर-आसोब ख़ास तौर पर पसंद था. जब भी कहीं ज़ल्ज़ला आता, कोई दंगा होता, कोई जंग छिड़ती, कोई बाढ़ किसी शहर को लील लेगी तो अब्बा जी कहते, नज़ीर होता तो वह इन पर शहर-आसोब ज़रूर लिखता. अहमद शाह अब्दाली और सूरजमल जाट ने अकबराबाद में जो क़त्लोग़ारत मचायी

थी, उसका बहुत गहरा प्रभाव नज़ीर मियां पर पड़ा था. अब्बा जी को भी ऐसी घटनाएं बहुत रंजीदा कर देतीं.

शफ़ीक़ा की थीसिस पूरी हुई. वह उर्दू भाषा में थी, रस्मुलख़त फ़ारसी का था. पंजीयन में उर्दू भाषा पर तो कोई एतराज़ नहीं था, क्योंकि उर्दू One of the modern Indian Languages है पर लिपि-लिपि तो देवनागरी होनी चाहिए. पर भोपाल में यह कोई समस्या नहीं थी. कोई ऐसा टाइपिस्ट हो जिसे हिन्दी टाइपिंग आती हो और जो उर्दू लिपि पढ़ लेता हो तो काम चल जायेगा. ऐसा एक टाइपिस्ट मिल भी गया. वह हिन्दी का गोदरेज टाइपराइटर शफ़ीक़ा ने घर ही उठा लाया. जहां कोई गिरह आती वह शफ़ीक़ा से पूछ लेता. थीसिस टाइप हुई, बाइंड हुई, सब्मिट हुई. मौखिकी हुई. मौखिकी के लिये चंडीगढ़ से डॉ. इन्द्रनाथ मदान आये थे. बड़े ख़ुश थे. यह होती है रिसर्च. असली शोध. वे हिन्दी के साथ उर्दू के भी जानकार थे. नज़ीर के मुताल्लिक़ अभी तक उर्दू में जो कुछ था, वह सब भी हिन्दी में आ गया था. शोध प्रबंध की भाषा कहने को तो उर्दू की थी पर वह उर्दू नज़ीर जैसी थी–हिन्दुस्तानी. हिन्दी के आम हिन्दी प्रबंधों की तरह न ठस, न ठोस. वे चंडीगढ़ में पं. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के साथ रह चुके थे और उनकी उस लतीफ़ बयानी का मज़ा ले चुके थे जो आचार्य जी अपने हिन्दी शोध छात्र रमेश कुन्तल मेघ के शोध प्रबंध को अग्रेषित करते वक़्त फ़रमायी थी–रमेश, तुम्हारी थीसिस तो मैंने अग्रेषित कर दी. अब तुम इसका हिन्दी अनुवाद भी कर डालो. मदान साहब ने शफ़ीक़ा फ़रहत को बधाई दी, मुझे बधाई दी बतौर निर्देशक. वे ख़ास तौर पर कुलपति डॉ. टंडन को बधाई देना चाहते थे. मैं उन्हें कुलपति कक्ष में ले गया. पहिले दोनों ने हिन्दी में बात की फिर उन्हें लगा कि मदानों और टंडनों को पंजाबी में भी बात करनी चाहिए. इत्थै-उत्थै हुई. बातचीत में पता चला कि दोनों विभाजन के पूर्व लाहौर में रह चुके हैं. 'लहौर दी गल' करते हुए दोनों अनौपचारिक हो गये. शायद दोनों एक ही वक़्त में लाहौर में थे. अनारकली की बातें हुईं, लाहौर कॉलेज के चर्चे हुए. जब मदान साहब उठने लगे तो टंडन साहब बोले–इट हैज बीन ए ग्रेट प्लैहर टू मीट यू. अनौपचारिकता के लिये अंग्रेज़ी शायद दुनिया की सारी भाषाओं में अव्वल है. मदान साहब ने कहा–द मैहर यू हैव टेकन टू परमिट एन इंटर डिसिपिलनरी टॉपिक लाइक दिस इज परहेप्स यूनिक इन इंडियन यूनिवर्सटीज़. मैहर, प्लैहर. मैंने अपने अनेक पंजाबी मित्रों को चाहे वे कितने ही पढ़े लिखे क्यों न हों, अंग्रेज़ी Pleasure को प्लैहर और Measure को मैहर बोलते ही सुना है. शायद हम सबको अपनी मातृभाषा ही आती है. बाकी भाषाएं तो हमारे लिए अर्जित होती हैं—सैकण्ड लैंग्वेज़, अपनी मातृ भाषा का अनुवाद. मदान साहब और टंडन साहब भी इसके अपवाद नहीं थे.

यह सब बा'द में मैंने अब्बा जी को बताया भी पर वे अंग्रेज़ों के ज़माने के

पुलिस के हाकिम थे. उन्हें पक्का एतबार था कि मैंने जीवाजी के पीएच.डी. आर्डीनेंस में ज़रूर कोई न कोई सेंध लगायी है और जिस दिन शफ़ीक़ा का कोई कलीग उस सेंध को ढूँढ़ निकालेगा उस दिन शफ़ीक़ा की डिग्री रद्द हो जायेगी, उसे जेल हो जायेगी और मुझे 'कन्नाइव' करने के इल्ज़ाम में या तो नौकरी से निकाल दिया जायेगा या मेरे पीएच.डी. के उस्ताद होने पर पाबंदी आयद हो जायेगी. पर मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ. अब अब्बा जी नहीं हैं. ख़ुदा उनकी रूह को जन्नत बख़्शे.

पर सबसे क़ाबिले-ज़िक्र वाक़िआ हुआ राखी के दिन. शफ़ीक़ा को डिग्री मिलने के बाद की पहली राखी आयी तो मैं ग्वालियर में था. शफ़ीक़ा ने टेलीफ़ोन किया कि इस बार राखी पर मैं ग्वालियर नहीं आ पाऊँगी, पाकिस्तान से मेरे कुछ मेहमान आये हुए हैं. आपको ही भोपाल आने की ज़हमत उठानी होगी. साधना को भी साथ लायें. हम लोग भोपाल पहुँचे. राखी के दिन शफ़ीक़ा ने बक़ाइदा चौक पूरा, पीढ़ा बिछाया, सिर ढाकने के लिये मुझे नया रूमाल दिया, टीका किया, राखी बाँधी और मिठाई खिलाने ही वाली थीं कि भीतर के कमरे से आवाज आयी–ऐ शफ़ीक़ा, ये क्या कुफ़्र मचा रक्खा है ? भीतर शफ़ीक़ा फ़रहत की बड़ी बहन थीं. पाकिस्तान में वे किसी बड़े पुलिस अधिकारी की बीवी थीं. छुट्टी लेकर अपने अब्बा और बहिनों से मिलने भोपाल आयी थीं. पुलिस अफ़सर की बीवी चाहे हिन्दुस्तान की हो, चाहे पाकिस्तान की, एक जैसी कड़क होती है. आपा ने अभी तक पाकिस्तान से आयी मेहमान से मेरा परिचय नहीं कराया था. बोलीं–बी आपा, ये कान्ति भैया हैं, भोपाल के दिनों में हमारे पड़ोसी थे. पीएच.डी. के मेरे उस्ताद भी हैं. पर इस सबसे क्या होता है ? कुफ़्र तो कुफ़्र ही होता है. पाकिस्तानी आपा ने कहा–उससे क्या हुआ, ये राखी, ये टीका–से सब तो कुफ़्र में ही शुमार है न ! शफ़ीक़ा को लगा कि इस नुक्ते पर बी आपा पर रोक आयद करना लाज़िमी है सो उन्होंने कहा–आपा, ये कुफ़्र पाकिस्तान में होंगे. यहां तो एक बहिन अपने भाई को राखी बांध रही है. आज से तीन बरस पहिले मैंने आज के ही मुक़द्दस मौक़े पर कान्ती भैया से पीएच.डी. की सौग़ात मांगी थी. उन्होंने उस दिन अपना वो क़ौल पूरा किया. अगर ये कुफ़्र है तो हो. यह कहते हुए उन्होंने पाकिस्तानी आपा के मुंह में पीएच.डी. और राखी की ख़ुशी में चमचम का एक टुकड़ा डाल दिया. पाकिस्तानी आपा बोलीं–हाय ! हाय ! तुम्हारे मुल्क की चमचम कित्ती मीठी होती है ! कराची में तो हम ऐसी मिठाई को तरस जाते हैं ! ❑

विद्यापुरम्, मकरोनिया कैंप, सागर (मध्यप्रदेश)

अजहू नाव समुद्र में...

—मधुकर सिंह

मधुकरसिंह कहानी व सारिका पीढ़ी के कहानीकार हैं, ठेठ ज़मीन गांव-जवार से जुड़े. हंस के विकराल डैने फैले तो उन्होंने ज़रा देर के लिये अपने पंख समेट लिये. अब फिर सरगर्म हैं. लघुपत्रिका 'इस बार' के सम्पादक. उनका आत्म-कथ्य बिहार के जातिवादी अलमीये को उजागर करता है.

गंगन मंडल में जो बिआनी
मुंह पर दही जमाया
माखन माख़न संतों ने खाया
छाछ जगत बटरानी रे.....
कबीर

सन् उन्नीस सौ साठ का दशक साहित्यिक कम, एक राजनीतिक कार्यकर्त्ता, भटकते-भरमते जीवन का दशक रहा है. जैसे बाबा की उपेक्षाओं, तिरस्कार ने परिवार से शून्य के एक बड़े समूह के भीतर मुझे ठेल दिया हो. इसी समूह के भीतर पत्नी यशदा और नन्हें बच्चों को लेकर जीता रहा था. फिर भी, नौकरी, कोई रोज़गार धंधा-विहीन तब भी जीने का साथी बनता गया है. विशाल जनसमूह; जिसके भीतर त्यागी राजनीतिज्ञ, शुभचिन्तक, लम्पट-आवारा मित्र-मंडल था. एक और क्रान्तिकारी सत्यनारायण सिंह, मुक्तिनाथ मिश्र, सूरजप्रसाद, संतप्रसाद सिंह थे, मध्यमार्गी भटकता राजनीतिज्ञ बिन्देश्वरी सिंह और मार्क्सवादी अध्येता, बुद्धिवादी और सम्पन्न किसान बच्चन सिंह भी थे, कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य न होते हुए भी सच्चे, सक्रिय स्थानीय-बाहरी कम्युनिस्टों के सच्चे सहयोगी और 'फिडर' थे. दूसरी ओर साहित्यिकों में डॉ. चन्द्रभूषण तिवारी, श्रीराम तिवारी, सुरेन्द्राचार्य और कॉमरेड रफ़ीक़ अहमद थे, जो मेरे सृजन के सहयात्री थे. बीच में चितरंजन जैसा आदमी भी था, जो भोजपुरी का

शेष

विलक्षण जनवादी कवि था—लम्पट-आवारा जीता था. उसकी संगति में मैं भी कुछ दिनों तक आवारा गुज़रा-भटका हूँ, लगभग दो वर्षों तक. उसमें लड़कियाँ फाँसने की अद्‌भुत कला थी.

अपने आप से लापरवाह-बेपरवाह मुझे दो ही आदमी मिले हैं—चितरंजन और राजकमल चौधरी. चितरंजन मेरा हमजोला था और राजकमल मुझ से उम्र में बड़े. आरा शहर के साहित्यिक प्रेमी, यारों के यार बाबू बालेश्वर सिंह ने एक साहित्य-समारोह में राजकमल चौधरी को भी बुलाया था. राजकमल ने इस शहर को जितनी कविताएँ सुनायीं, उससे कम शराब नहीं पी. तब मुझे चितरंजन और राजकमल में यही फ़र्क़ नज़र आया कि चितरंजन दूसरे के हाथों मरा और राजकमल स्वयं के हाथों. आरा से ही लौटकर राजकमल डॉ. शाही की देखरेख में पी.एम.सी.एच. में भर्ती थे और ऑपरेशन थियेटर में ले जाते समय भी स्ट्रेचर पर लेटे कविताएँ लिखते रहते थे. उनका काव्य संकलन 'मुक्ति-प्रसंग' मिसाल है. ऑपरेशन के बाद भी डॉक्टरों के मना करने के बावजूद नर्सों से आँखें बचाकर पटना के एलिफिंस्टन सिनेमा हॉल में रोज़ सेकेण्ड शो महबूब की फ़िल्म 'आन' देख लिया करते थे. मौत से बेख़ौफ़ और इतना निर्भीक था वह आदमी राजकमल चौधरी !

मेरा व्यक्ति और व्यक्तित्व इन्हीं सारे व्यक्तियों और परिदृश्यों में खोया रहा, अपनी आर्थिक-सामाजिक विपन्नता के बावजूद. मेरा रचनाकार जितना ही ईमानदार, सही और संघर्षोन्मुख होता गया, मेरे दिन अधिक-से-अधिक गर्दिश और जोखिम के बीच घिरता चला गया. मेरी बारह-तेरह साल की उम्र में मेरे पुलिसमैन पिता मुझे बचपन से ही 'कमासुतने' देखना चाहते थे. उनकी ख़्वाहिश उन्हीं के साथ मर गयी, मैं उनकी तरह पुलिस नहीं बन सका—बी.ए. करने के बा'द कर्ल्क का सपना देखने लगा. ज़िन्दगी और नौकरी के लिए पच्चीस की उम्र बिना किसी रहस्य, चमत्कार के गुज़ार दी, लाखों बरबाद, घटनाविहीन बचपनों और किशोरों की तरह. अर्ज़ियाँ फेंकते-फेंकते ज़िन्दगी की सारी रुचियाँ मर गयीं. बाप का गुस्सा और गालियाँ सहने का आदी बन गया. वे पास-पड़ोस के ग्रामीणों से कहा करते, अगर पुलिस में बहाल रहता, तो घर में दो जन कमाऊ होते. कोई तकलीफ़ नहीं रहती. मैंने पढ़ाई कर उन्हें तबाह कर दिया. सूअर की तरह जो बच्चे पैदा किए उसके लिए भी मैं ज़िम्मेदार हूँ. मगर बचपन में मेरा ब्याह किसने रचाया ? मैट्रिक की परीक्षा दी थी और ख़ुद बाप कहलाने लगा था. दो बापों के संघर्ष की शुरुआत तभी से थी; जिसकी कहानी भी अजीब है. सिर्फ़ इसकी परिणति मेरी 'तक्षक' कहानी है जो सन् 1964 के फ़रवरी में श्रीपतराय की 'कहानी' पत्रिका में छपी थी.

यह बात भी सही है कि मेरे परिवार के लिए उनकी नौकरी के सिवा दूसरा कोई आधार नहीं था. जो भी दो-ढाई एकड़ गाँव की ज़मीन थी, उसे दादा ने गांजा पीने में

गाँव के अमीर और सामन्तों को यहाँ गिरवी रख दी और बंगाल के मिदनापुर ज़िले में किसी मारवाड़ी के यहाँ दरबानी करने लगे. बाबा तकलीफ़ से ऊबकर कोलकाता भाग गए और अट्ठारह साल की उम्र में जेल-पुलिस की नौकरी में आ गए. अँगूठा छाप बाबा ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ज़िला मेदिनापुर में मुझे जन्म दिया. माँ की तकलीफ़ें दूर होने लगीं, 'अपना परिवार' खिसकने लगा. अपनी तैंतीस साल की नौकरी में बाबा ने बहुत कुछ कर लिया. घर नहीं था, घर बन गया, ज़मीनें छुड़ा लीं, कुल मिलाकर तीन एकड़ धरती अपनी हो गयी.

मैं दस साल की उम्र में माँ के साथ सर्वदा के लिए अपने बिहार के भोजपुर जनपद के पुश्तैनी गाँव आ गया. सन् 1962 में भारत-चीन-संघर्ष छिड़ा था. कम्युनिस्टों की धर-पकड़ शुरू थी. अपने कॉलेज के दिनों से ही मैं कम्युनिस्ट के रूप में 'बदनाम' था. बाबा से ऊबकर उन्हीं दिनों मैं सरकार के भय से बेपरवाह, पत्नी और तीन बच्चों के साथ पटना की अनजान सड़कों पर आ गया था. तब गुरुप्रसाद उप्पल पटना से दैनिक 'आवाज़' और मासिक 'कहानियाँ' निकाल रहे थे. 'कहानियाँ' में मेरी दो कहानियाँ छप चुकी थीं. मैं उनसे मिला तो उन्होंने मुझे दैनिक 'आवाज़' में पचहत्तर रुपए मासिक पर रख लिया. पत्नी यशदा, बच्चे शैल, मीरा और कृष्णा के साथ मेरी ज़िन्दगी की बैलगाड़ी डगर पकड़ने लगी. उप्पल जी के दोस्त और 'आवाज़' के सम्पादक दिनेश प्रसाद सिंह को ख़ुशफ़हमी थी कि मैं एक होनहार राजपूत बछेड़ा हूँ. वे मुझे झोले की तरह लटकाए फिरते थे. मेरा काम पटना की सड़कों, गलियों, सार्वजनिक और राजनीतिक नेताओं; अस्पताल, विश्वविद्यालय में घूम-घूमकर समाचार लाना था और मेरा ख़िताब था, 'सिटी रिपोर्टर.' एक रोज़ अख़बार के सम्पादक और उप्पल जी के दोस्त बिहार विधान-सभा में समाचार संकलन की ट्रेनिंग देने के लिए अपने साथ ले गए. लौटते समय रास्ते में उन्होंने मुझसे पूछा, "तुम भी राजपूत ही हो ?"

मुझे तत्काल सच नहीं सूझा और मेरे गले से नामालूम कैसे यह आवाज़ निकल आयी, "जी, राजपूत हूँ."

मेरा झूठ बोलना अच्छा था; क्योंकि उस समय मेरी जाति का कोई भी लेखक-पत्रकार, जानकारी में नहीं था. उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "उप्पल से कहकर तुम्हारी तनख़्वाह बढ़वाता हूँ, कुल एक सौ रुपए. अपने आदमी हो, इसीलिए. आज उससे तुम्हारी तारीफ़ करूँगा."

दिनेश भाई के साथ की कई घटनाएँ मेरे ज़ेहन में हैं. वे एक, दो बार राजपूत लेखक-पत्रकारों की बैठक में मुझे ले गए थे; जिनमें डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु और मधुकर गंगाधर को छोड़कर किसी को नहीं जानता था. मधुकर गंगाधर और राजकमल चौधरी गहरे दोस्त थे. राजकमल को कोलकाता जाते समय मधुकर गंगाधर उन्हें छोड़ने

स्टेशन आए थे. मैं भी साथ था. मेरे भाग्य से ट्रेन लेट थी. राजकमल चौधरी से मुलाक़ात उसी दिन मित्रता में बदल गयी थी. वे जब भी पटना आते, मुझे ज़रूर ढूँढ़ते, प्यार और साहित्य की बातें करते, कविताएँ और कहानियाँ सुनाते. राजकमल का व्यक्तित्व मुझे ज़्यादा प्यारा लगता, पटना के तमाम लेखकों से अलग-थलग. मनमोहिनी और प्रकाश जैन के सम्पादन में निकलने वाली 'लहर' पत्रिका उन दिनों काफ़ी चर्चा में थी. राजकमल से मिलने वे दोनों बराबर पटना आते रहते थे. राजकमल मुझे 'लहर' में लिखने के लिए बराबर उकसाते रहते थे. मेरे नाम से 'लहर' में एक रचना ज़रूर छपी, मगर वह मेरी लिखी नहीं थी, मधुकर गंगाधर की लिखी हुई थी. रचना का शीर्षक था—"मैं मिला मधुकर गंगाधर से–मधुकर सिंह." तब से 'लहर' का नियमित पाठक होते हुए भी 'लहर' में लिखने के नाम पर मुँह चुराने लगा. यहाँ तक कि उस कथित रचना को इन्कार करने का मुझे साहस भी नहीं था, मैं उस 'मासिक बैठक' का सदस्य जो था. मगर यह सदस्यता बहुत दिनों तक नहीं चली, भांडा फूट गया. चितरंजन ने पटना आकर सारा पोल दिया. उस दिन से मेरी स्थिति मुँहचोर की थी, मधुकर गंगाधर से ही नहीं, दिनेश भाई से भी. दोनों मुझे मधुकर 'सिंह' कहने में हिचकने लगे थे.

उन्हीं दिनों रामगढ़ के राजा कामाख्या नारायण सिंह ने 'जनता पार्टी' नाम से राजनीतिक पार्टी बनायी थी. उन्होंने हज़ारीबाग़ ज़िले से तमाम विधान-सभा सीटें कांग्रेस से छीन ली थीं और कृष्णवल्लभ सहाय के नेतृत्व का सारा कांग्रेसी गढ़ ढह चुका था. उन्होंने 'स्वाधीनता' नाम से राजनीतिक साप्ताहिक निकाला, जिसके प्रबंधक राजा रामगढ़ के रिश्ते में फूफा कृपानारायण सिंह और सम्पादक दिनेश प्रसाद सिंह थे. बहुत चिरौरी के बाद दिनेश भाई ने मुझे रख तो लिया, मगर नाममात्र के वेतन पर—कहिए कि दैनिक दस रुपए पर. अंग्रेज़ी से जो अनुवाद हिन्दी में करता था उसके पैसे अलग से मिल जाते थे. कुछ माह तक तो गाड़ी अच्छी तरह चली. बाद में कृपानारायण सिंह की कृपा से 'स्वतंत्रता' साप्ताहिक बंदी के कगार पर पहुँच गया. तमाम कर्मचारियों की मजूरी महीनों से लटकी रही. हम तमाम कामगार गाँधी मैदान के कोने पर बिस्कोमान भवन की बायीं ओर 'स्वाधीनता' कार्यालय के सामने आमरण अनशन पर बैठ गए. पटना में घोर शीतलहरी और पोलो ग्राउंड में अखिल भारतीय कांग्रेस का महाधिवेशन. प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू का भाषण अख़बारों में छाया था. उन्हीं अख़बारों के एक कोने में हमारा भी समाचार छपा—'स्वतंत्रता साप्ताहिक में तालाबंदी. तमाम कर्मचारी आमरण अनशन पर'. राजा की कोठी में त्राहिमाम संदेश. राजा साहब कोलकाता से पटना आए और हमारे बक़ाया भुगतान के बा'द 'स्वतंत्रता' में तालाबंदी की घोषणा कर दी गयी. दिनेश भाई तो कांग्रेस महाधिवेशन में थे, उनका भी हमारे आमरण-अनशन ने कल्याण कर दिया.

मेरा सब कुछ मकान-मालिक ने किराये के एवज़ में ज़ब्त कर लिया था. मेरी जेब में तो चना ख़रीद कर खाने लायक़ भी पैसे नहीं थे. बच्चों की भूख के कारण मैं भी 'कठ करेज' नहीं हो पाता और फूट-फूटकर रो पड़ता. मेरे एक दोस्त सत्यदेव शान्तिप्रिय ने मेरी बहुत मदद की. क्या ऐसे व्यक्ति के एहसान का कोई और ऊँचा नाम नहीं हो सकता ? उन्होंने अपने एक रिश्तेदार के यहाँ किराये पर रखवा दिया. बाद में जब उस रिश्तेदार मालकिन को मेरे हालात का पता चला तो वह यशदा से बोलीं, ''सुन बिटिया, जब तेरे मरद को वेतन मिलने लगे, तो मेरा किराया जोड़ कर चुका देना. तू तो मेरी बहू जैसी प्यारी है.''

फिर वही स्थायी बेरोज़गारी. मगर रहने का ठिकाना मिल गया. दिनेश भाई का वह मारक सवाल 'तुम राजपूत हो ?' और मेरा झूठ कि 'हाँ, हूँ' के द्वन्द्व से आज भी नहीं ऊबर पाया हूँ. जातिवादी इस हिन्दू-व्यवस्था में किसी के भीतर कुंठा अजर हो सकती है. यहाँ तक कि मेरे अज़ीज़ चन्द्रभूषण तिवारी से भी ऐसे दंश बराबर मिलते रहे हैं; जबकि हम दोनों ने साहित्य में साथ-साथ आँखें खोली थीं. चन्द्रभूषण भी मार्क्सवादी लगाम ढीली कर ब्राह्मणवादियों की जमात में शामिल हो चुके थे. उन दिनों आरा महाराज कॉलेज में रमेशकुंतल मेघ और डॉ. रवीन्द्र भ्रमर नये-नये आए थे. चन्द्रभूषण की रमेश कुंतल मेघ से पर्सनल दोस्ती अच्छी बन गयी थी. मेघ डॉ. शिवकुमार मिश्र के रिश्ते में भाई लगते थे. डॉ. शिवकुमार मिश्र उन दिनों सागर विश्वविद्यालय में पढ़ा रहे थे और आचार्य पं. नन्ददुलारे वाजपेयी के पट शिष्यों में एक थे. चन्द्रभूषण के लिए अच्छा अवसर था. तब से हमारी संस्था 'कला-मंडल' में और चन्द्रभूषण के गाँव कई बार वाजपेयी जी आए. अन्तोगत्वा चन्द्रभूषण भी उनके निर्देशन में पीएच.डी. करने सागर चले गए. मैं चन्द्रभूषण के साथ मेघ जी के निवास पर आया-जाया करता था और उनके कम्युनिस्ट-मानस से प्रभावित था. एक दिन मैंने भी चन्द्रभूषण के साथ मेघ जी के घर खाना खाया था. उसी दिन से दोनों ने मुझे 'भोजन भट्ट' की उपाधि अकारण दे डाली थी. दोनों के मेरे उपहास में जातिगत दुर्गन्ध थी. 'कला मंडल' हम सब की संस्था ज़रूर थी, मगर चन्द्रभूषण अपने लिए इस्ते'माल करते रहते थे. वे अपने केरियर के लिए कुछ भी कर सकते थे. सागर में जो इनकी जमाअत बनी थी, उसमें कवि विजय बहादुर सिंह को छोड़कर सभी ब्राह्मण थे. यही कारण है कि वाजपेयी जी के कारण उनकी थीसिस एंडी मार्क्सवादी थी; जिस कारण इन्होंने कभी भी उसे सार्वजनिक करने की कोशिश नहीं की.

एक बार की घटना है, एक गोष्ठी में मैंने अपनी कहानी 'आदमी और कविता' का पाठ किया था. कहानी का मुख्य चरित्र नक्सलवादी कम्युनिस्ट था और गाँव की एक ब्राह्मण स्त्री से उसे पुत्रवत प्यार मिला था. चन्द्रभूषण इस कहानी पर बुरी तरह

बरसे थे और मेरे लेखक को चन्द्रभूषण ने जातिवादी घोषित कर दिया था. मुझे अच्छी तरह याद है, मैंने अपने लेखक के बचाव में इतना ही कहा था कि जो वर्ण और वर्ग के विषाक्त दाँतों से बुरी तरह घायल हो, वह जातिवादी कैसे है ?

जो भी हो, दिनेश भाई से मिले दंश के बावजूद रामचन्द्र भारद्वाज, रामनरेश पाठक, सत्यदेव शान्तिप्रिय, चक्रधर, केदारनाथ कलाधर के साथ मेरी संगति बढ़ने लगी थी. उन दिनों दिनेशप्रसाद सिंह और रामचन्द्र भारद्वाज बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साहित्य-पहलवान थे. रामदयाल पाण्डेय और केसरी कुमार के साथ उनका भयावह शीतयुद्ध चल रहा था. दोनों पहलवानों ने सम्मेलन-भवन पर क़ब्ज़ा कर रखा था. उन्होंने दो नियुक्तियाँ भी कर दीं—एक किरानी के रूप में मेरी और दूसरी वृषभ समान बलिष्ठ भुजाओं वाला छः फुटा पहलवान. अलस्सुबह पहलवान दंड-बैठक और पूजा-पाठ से निपटने के बा'द अपना लाल लंगोट सूखने के लिए नित ऑफ़िस के सिलिंग फ़ैन में लटका देता. लंगोट दिनभर आराम से सूखता रहता. उसके डर से सम्मेलन-भवन में 'फ़िज़ूल' लोगों का आना-जाना प्रायः बंद था–अर्थात् पं. रामदयाल पाण्डेय और केसरी कुमार पर रोक के लिए ही यह पहलवान था. पहलवान सम्मेलन की राजनीति से बेमतलब, बेपरवाह था; क्योंकि उनके भी 'घर-दरबार' पहुँच कर सलाम ठोंक आया करता था. उस कड़की में रामचन्द्र भारद्वाज मेरे लिए महादेव थे. उन्हीं की कृपा थी कि मेरे ठिकाने पर छः माह तक लगातार राशन-पानी पहुँचता रहा था, जो रामचन्द्र भारद्वाज कांग्रेस के ख़ज़ांची सीताराम केसरी के हनुमान थे और केसरी की कृपा से राज्य-सभा तक छः वर्षों के लिए सदस्य थे. इन्होंने दिनेश भाई को समझा-बुझाकर सम्मेलन-भवन में पचहत्तर रुपए मासिक वेतन पर किरानी उर्फ़ कार्यालय-सचिव के पद पर नियुक्ति करायी थी. मेरी ड्यूटी छः बजे शाम से नौ बजे रात तक थी. आने वाले साहित्यकारों का आदर-सत्कार मेरा काम था. लेकिन पाठको ! साहित्य-सम्मेलनों की अक़्सरहा अजीब-अजीब विडंबनाएँ रही हैं. बड़ी विडंबनाएँ तो यही हैं कि इसके सर संचालक साहित्य के पहलवान होते हैं; जिनके पिच्छलग्गू अधकचरे लेखक-कवि और मीडियॉकर कॉलेजी अध्यापक होते हैं. बिहार साहित्य-सम्मेलन में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, शिवपूजन सहाय और केसरी कुमार इसके अपवाद थे. आचार्य शिवपूजन सहाय रोज़ शाम सात बजे सम्मेलन-भवन आ जाते और घंटे भर बैठने के बाद लौट जाया करते थे. लौटते समय उनके लिए रिक्शा ठीक करना और उन्हें रिक्शे पर बैठाकर चरण-स्पर्श कर विदा करना मेरी महानतम ड्यूटी थी. दिनेश भाई और भारद्वाज जी का मेरे लिए ऐसा ही आदेश भी था. ऐसे कृत्यों से मैं धन्य-धन्य था. आचार्य जी के सेवा-भाव का ही प्रतिफलन था कि मेरे मासिक पारिश्रमिक में पच्चीस रुपए का इज़ाफ़ा हुआ था.

पाठको ! हमारे हिन्दी-समाज में एक बड़ी बेहूदी परम्परा है, सबसे पहले जाति

पूछने की–ख़ासतौर से सवर्ण जातियों में. मैं भी उनकी जाति भांप कर उन्हीं की जाति बताकर ख़ुशफ़हम होने लगा था. मुझे इस चुहुल में आनन्द आने लगा था. आमतौर हर घटना की एक कहानी होती है. मेरी ज़िन्दगी में ऐसी कई कहानियाँ घटी हैं. ऐसी ही एक कहानी घटी कि एक दिन शिवजी अचानक छः बजे शाम को ही सम्मेलन-भवन चले आए और फ़ैन की ओर नज़र जाते ही चौंक पड़े, "ए मधुकर जी, पंखवा में लाल-लाल कंउची नाचता ?"

"पहलवान के लंगवटा सुखता, सर !"

अतिशय ज़ईफ़ शिवजी ने माथा ठोंक लिया, "हाय रे करम ! साहित्य के सरोवर में पहलवान के लंगवटा ? अब एहिजा आइल बेकार बा. नलिन जी (आचार्य नलिन विलोचन शर्मा) हमरा के छोड़ के पहिले चल गइलीं. हमार जिअल अकारथ बा. भगवान जलदिए हमरो के उठा लेस."

वे झटके से कुर्सी से उठे थे; मानो बेचैन मन को कमज़ोर शरीर अंगेज नहीं पा रहा हो. उनके साथ रिक्शे पर उनके घर तक आया था. रास्ते में उन्होंने पूछा, "अपने के बाबुए साहेब नू हईं ?"

अचानक मुझे झटका-सा लगा था पाठको. कल्पना कीजिए सामाजिक प्रतिष्ठाविहीन उस आदमी का. मगर मेरी भी सरस्वती कमज़ोर नहीं थी. विवेक जागा और बुनियादी सच को झूठ की तरह उगल दिया, "जी, ना सर ! कायस्थ हईं."

मेरी तरह उन्हें भी झटका लगा होगा. विस्फारित नेत्रों से बोले, "तब रउरा नमवा के संगे सिंह कइऐ लिखिला ?"

मैंने तपाक से कहा, "हमरा गाँव के कुल कायस्थ लोग सिंहे लिखेला. जइस राजा साहेब (राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह) के गाँव–सूर्यपुरा स्टेट. फुल्ह लोग सिंहे लिखेला."

मृदुल-सरल शिवजी ने मेरे झूठ को सच की तरह स्वीकार लिया. जो भी हो, मेरे झूठ ने दूसरे ही दिन पच्चीस रुपए की वृद्धि की गरिमा दी थी. सामाजिक प्रतिष्ठा दी थी.

सन् 1963-64 साल.

'कला मंडल' की ओर से जैन सिद्धान्त भवन, आरा में एक कहानी-गोष्ठी थी. चन्द्रभूषण नीरे और मैंने कहानी पढ़ी थी. रामेश्वरसिंह काश्यप जी ने अध्यक्षता की थी. उन दिनों डॉ. चन्द्रभूषण तिवारी अपने नाम के साथ 'नीरे' लिखते थे. मेरी कहानी का नाम था. 'महाकवि कालूराम जी 'मस्त'. और चन्द्रभूषण नीरे की कहानी थी 'असली रावण'. मेरी स्मृति में चन्द्रभूषण ने दो ही तीन कहानियाँ लिखी थीं–जो पटना के मासिक 'ज्योत्सना' में छपी थी. काश्यप जी को मेरी कहानी अच्छी लगी. उन्होंने

मुझे कहानी लिखते रहने के लिए प्रोत्साहित किया. पूछा, "आकाशवाणी से कभी कार्यक्रम मिला है ?"

"जी, नहीं."

उन्होंने आकाशवाणी में पं. प्रफ्फुलचन्द्र ओझा 'मुक्त' के नाम चिट्ठी दी थी. मुक्त जी वार्ता के प्रोड्यूसर थे. उन्होंने कार्यक्रम तो दिया, मगर ठीक हीली के दिन. वह भी कहानी नहीं, हास्य कविता. नहीं लिख सकता था. चितरंजन से लिखवाकर पढ़ दी थी. परन्तु मुक्त जी का इससे भी बड़ा आघात जो उन्होंने दिया, वह आज तक नहीं भूल पाता हूँ. उन्होंने मिलते ही पूछा था, "अपने हूँ के काश्यप जी के बिरादरी हईं." (आप भी काश्यप जी की बिरादरी हैं ?)

मैंने अपनी जाति बता दी थी. मेरी जाति जानते ही उनकी भाषा हिक़ारत में बदल गयी थी. वे 'तें', 'तू' पर उतर आए थे. उनका आख़िरी वाक्य मुझे रू-ब-रू मेरी याद में है, "आहो, तहनियों के जात में कवि लेखक होला का ?" (अरे, तुम्हारी जाति में भी कवि लेखक होता है क्या ?)

मैंने हिम्मत बटोरते हुए इतना ज़रूर कहा था कि जाति की पैदाइश किसकी कोख से है ? मगर यह ज़हर मेरी पीढ़ी के बाद वालों में भी बरक़रार रही है. पाठको ! मेरा एक ब्राह्मण महिला से सम्पर्क हो गया था. जब-जब मैं उसके साथ संभोगरत होता, तो मुझे मुक्त जी ध्यान में चढ़ जाते और उसके साथ घनघोर बलात्कार करने लगता. वह इस दुनिया में नहीं है. मगर जब तक थी, मुझे (बल्तकार) के लिए उकसाया करती थी. हमारी प्रसन्नता की दो समानान्तर रेखाएँ थीं.

व्यवहारिक तौर पर मेरे सामने जटिलतर समस्यायें बराबर रही हैं. पहली कठिनाई तो सामाजिक स्थितियाँ और उसकी जटिलताएँ रही हैं. सही अर्थों में रचना-प्रक्रिया का दौर ताज़िन्दगी निरंतरता में चलता रहता है. जब रचना लिखने से ज़्यादा रचने की प्रक्रिया में होती है तो रचनाकार 'पर्सनल' ही होता है. जिन दिनों 'असाढ़ का पहला दिन' लिख रहा था, उन दिनों भोजपुर में किसान-संघर्ष अपने उठाव पर था. सामंत भूस्वामियों की भूमि पर मज़दूर किसानों ने आर्थिक नाकेबंदी कर डाली थी. मज़दूरी के सवाल सुलझने के बाद ही नाकेबंदी टूटी थी. 'लहू पुकारे आदमी', 'भाई का ज़ख़्म', 'कवि भुनेसर मास्टर' जैसी कहानियाँ ऐसे ही वक़्त में लिखी गयी थीं. 'लहू पुकारे आदमी' का भैरो त्रिपाठी मेरे अभिन्न श्रीराम तिवारी का साला ब्रजनन्दन त्रिपाठी है, जो अपने चन्दवा गाँव में प्रगतिशील युवक मंच तले तमाम युवकों को एकजुट करना चाहता था. वह अपने गाँव के नगीना मुसहर के साथ पढ़ने स्कूल आता था. सन् 1971 की आख़िरी तारीख़ तक ज़िलों भर में एक ही मुसहर किसी कॉलेज में था और बी.ए. फाइनल ईयर का छात्र था. साइकिल से आते लड़के भैरव त्रिपाठी से मज़ाक़ करते थे–"पंडित जी के करम में नगीना मुसहर है. अपने लोगों के साथ साइकिल

पर आना-जाना इसे मंज़ूर नहीं है." ब्राह्मण और मुसहर लड़के की दोस्ती अजीब बात है. भैरो कहता था, "साइकिल दोनों के पास नहीं है. पुरखों के पास साइकिल खरीदने का दाम नहीं है. इसलिए नगीना राम मुसहर और भैरवनाथ त्रिपाठी एक साथ चलने के लिए मजबूर हैं." मतलब कि इस घटना ने मुझसे 'लहू पुकारे आदमी' लिखवायी थी. 'सारिका' में, यह कहानी सन् 1972 में छपी थी. कहानी पढ़ने के बा'द तिवारी का साला मिला तो उसकी आँखें ख़ुशी के मारे डबडबायी हुई थीं. इस कहानी का दूसरा पाठक-पक्ष भी है. कहानी के आख़िर में मुसहर टोली में आग लगा दी गयी है. नगीना, मुसहर और भैरो त्रिपाठी दूर खड़े छटपटाते और टुकुर-टुकुर ताक रहे हैं. मार्क्सवादी-लेनिनवादी भूमिगत नक्सली नेता सत्यनारायण सिंह 'सारिका' में इस कहानी को पढ़कर मेरे लेखकी रुख़ पर बुरी तरह झल्लाए थे–"नई बात यह नहीं है मधुकर, कि मुसहरटोली जलायी जा रही है. नई बात यह है कि आज सामंत भूस्वामी के घर भी फूँके जा रहे हैं." ❑

धरहरा, आरा-802301 (बिहार)

लघुकथाः

साम्प्रदायिकता : सीन-दर-सीन

—जाहिदख़ान

पहला सीन

"नेता जी...यह बंद, प्रदर्शन, भड़काऊ नारेबाज़ी आख़िर क्यूं ! यहां के मुसलमान तो अम्नपसन्द हैं. मैंने इनके मुहल्ले जा के देखे हैं. कितनी बदहाल है इनकी ज़िन्दगी ! फिर भी किसी से कोई गिला नहीं, शिकवा नहीं. हमेशा अपनी आख़िरत की ज़िन्दगी के बारे में ही सोचते रहते हैं. भागलपुर हुआ, अयोध्या हुआ, गुजरात हुआ, शायद ही इन्होंने कभी कोई आवाज़ उठाई हो, फिर हमारे छोटे-से शांत शहर में इन सब की क्या जुर्रत ?"

"तुमने एक पुरानी कहावत तो सुनी है ना...मार-मार के मुसलमान बनाना ! एक सीधे-सच्चे मुसलमान से ज़्यादा आक्रामक होते हैं–कट्टर-मुसलमान ! वो ही तो हमारी सियासत के लिए ज़्यादा फ़ाइदामंद हैं," नेताजी ने मुस्कराते हुए कहा.

दूसरा सीन

अयोध्या हुआ–पूरी मुम्बई विस्फोटों से कांप गई.

गुजरात हुआ–सारा देश सिहर गया.

अब जब भी कहीं विस्फोट होता है, हिन्दुस्तान के सारे मुसलमान सहम जाते हैं.

तीसरा सीन

"बड़े मौक़े की दुकान है, साला काफ़िर ख़ाली ही नहीं करता".

"अजी साहब...फ़िक्र क्यों करते हैं ? अपने यहां हिन्दू-मुस्लिम के बीच खाई बढ़ती जा रही है. अगले फ़साद में यह दुकान अपनी होगी, इंशाअल्लाह !"

हयात अली ने अपनी दाढ़ी सहलाते हुए कहा. ❑

महल कॉलोनी, शिवपुरी (म.प्र.)

हिन्दी की अंग्रेज़ी में घुसपैठ

—हरदर्शन सहगल

हरदर्शन सहगल जाने-माने कहानीकार और नॉवेलनिगार हैं. उनकी कई किताबें मंज़रे-आम पर आ चुकी हैं. रिटायरमेंट के मज़े लूट रहे हैं. नौकरी की रेल तो छूटी, ज़िंदगी और अदब की रेल आन-बान-शान से चल रही है. तबीअत में ज़रा चुहुलपन है, जिसकी झलक इस यादनामे में.....

वन्स् अपान-ए टाइम :

एक बार हुआ यूं कि एक एल.आई.सी. (हिन्दी में शायद जीवन बीमा निगम कहते हैं) वालों ने, मुझ से अपनी एक हिन्दी कार्यशाला (अंग्रेज़ी में तो वर्क शॉप कहते हैं) का उद्घाटन करवा डाला। निदेशक, आयोजक वग़ैरह मेरे बारे में, कुछ नहीं जानते थे. बा'द में मुझे कुछ बातें मा'लूम हुई थीं. उन्हें, हमारे रेलवे के वरिष्ठ हिन्दी अधिकारी, (आगे की अंग्रेज़ी आप ख़ुद समझते रहें) गोपाल सिंघल जी ने मेरे बारे में समझाया था कि शह्र में सहगल साहब से बढ़कर कोई वास्तविक साहित्यकार नहीं बसता. तब उन लोगों ने हामी भरी थी कि हां, नाम तो सुन रखा है. आप ज़रा उन्हें फ़ोन कर दीजिए (मना लीजिए) हम अभी उन के यहां पहुंचे जाते हैं.

उन सब लोगों से मिल कर मुझे बेहद ख़ुशी हासिल हुई. जब मुझे पता चला कि वे लोग, मन्नू भण्डारी, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर रेणु वग़ैरह के बारे में भी कुछ ख़ास नहीं जानते तब ! तब लगा कि चलो, अब कम-से-कम मुझ को तो ज़रूर जानने लगेंगे जैसे कि नगर के तीन पांच हिन्दी लेक्चररों को एज़ ए 'माना हुआ बड़ा साहित्यकार' जाना जाता है, उसी तरह मैं भी मशहूर हो जाऊंगा. इन निगम वालों से प्रेरणा ले कर, पुलिस, बैंक, आयकर आदि महकमों द्वारा मैं भी, अगर आगे चल कर बुलाया जाता रहा, तो लेक्चररों की भांति मेरे कमरे भी स्मृति-चिह्नों से भर जाएंगे. हो सकता है, बा'द में मुझे किसी गोदाम की दरकार पेश आए.

मुझे यह भी पता चला कि जो स्मृति चिह्न (गणेशजी की बड़ी प्रतिमा) मुझे बा'द में (शुरू में तो हार पहनाए जाते हैं) भेंट किया गया, उस की क़ीमत चार सौ रुपये थी. वह उन्हें बारगेनिंग करने पर, पौने तीन सौ की मिली थी, क्योंकि उन्हें दो ख़रीदनी थी. एक, संध्या-सत्र में, शालिनी जी को देने के लिए. हमें भी कॉलेज में, 'भारतीय अर्थव्यवस्था' के अंतर्गत पढ़ाते समय प्रो. हजेला जी ने इसी बात पर ज़ोर दे-दे कर समझाया था कि हमेशा बारगेनिंग करो. लेकिन, अध्यक्षता, उद्घाटन जैसी चीज़ों के लिए आप कोई बारगेनिंग नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसे पवित्र कर्मकाण्डों को सरअंजाम देने के लिए होड़ मची रहती है. विद्वज्जनों के बीच और आयोजकों के साथ लड़ाई जैसी स्थितियां पैदा होती रहती हैं : कि वह क्या जानता है ? हम से बड़ा साहित्यकार है क्या ? ख़ैर छोड़िए.

सरस्वती-वंदना, हार-वार पहनाने के बाद, संचालक महोदय ने मेरा बायोडाटा पढ़ कर यह सिद्ध कर दिखाया कि सहगल साहब बहुत लंबे अर्से से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं. इन्होंने हर तरह का साहित्य लिखा है. आप कई भाषाओं के जानकार हैं. कई पुरस्कार जीत रखे हैं. देश विभाजन पर भी आप ने एक बड़ा उपन्यास लिख रखा है या'नी इन्होंने अंग्रेज़ों का ज़माना भी देख रखा है. आप हमें हिन्दी के बारे में तो बताएंगे ही, कि आज़ादी के बा'द हिन्दी का कितना विकास हुआ है. हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है कि राजभाषा! हिन्दी में काम करने के क्या लाभ हैं. हिन्दी में काम क्यों करना चाहिए. साथ ही मैं आप से यह भी अनुरोध करूंगा कि हमें यह भी बताने का कष्ट करेंगे कि अंग्रेज़ों का शासन अच्छा था या कि स्वतंत्र भारत सरकार का शासन.

सच मानिए ऐसे कठिन प्रश्नों को सुनते ही मेरी गर्दन के ऊपर लगी खोपड़ी, मिक्सी के ऊपर लगे जार की तरह, ज़ोर-ज़ोर चक्कर खाने लगी. मैं धर्म संकट में पड़ गया कि कहीं ये लोग मुझे अराष्ट्रवादी न समझने लगें. इसलिए मैंने इस प्रश्न का उत्तर उन्हीं पर डाल दिया. कहा—मुझसे क्यों पूछते हैं ? स्वयं अपने से पूछिए. क्यों कुछ बुज़ुर्ग लोग आह भरते हुए, यह कहते सुने जाते हैं—हाय ! इससे तो अंग्रेज़ों की हुकूमत ही अच्छी थी. है कि नहीं ?

—हां जी हां जी, कहते तो हैं. दो, तीन सहभागियों ने एक साथ हामी भरी.

मैं बोला—सच मानिए, यह मैं नहीं कह रहा. मैं तो यहां हिन्दी के बारे में बोलने आया हूं. अंग्रेज़ों के ज़माने में हमें पांच साल की उम्र पार कर लेने के बा'द स्कूल में दाख़िला मिलता था. कच्ची-पक्की से चौथी-पांचवीं तक अंग्रेज़ी नहीं पढ़ाई जाती थी. लड़कों को उर्दू और लड़कियों को हिन्दी पढ़ाई जाती थी. आगे चलकर, अंग्रेज़ी के साथ संस्कृत या फ़ारसी भी पढ़ाई जाती थी. अंग्रेज़ी और गणित वग़ैरह में एक्स्पर्ट, लोगबाग़ दसवीं के बा'द कलेक्टर तक भी लग जाते, बताए जाते हैं. जबकि आज के बच्चे इतने भारी-भरकम बस्ते उठा लेने के बावजूद, कुली भी नहीं बन पाते. आप

सबको मा'लूम ही होगा कि क़ुली का लाइसेंस पाने के लिए भी बिना सिफ़ारिश-रिश्वत, काम नहीं बनता.

वहां बैठे लोग हंसने लगे.

मेरा गला थोड़ा खुल चुका था. मैंने कहा–सुनिए सुनिए. तब मैं बहुत छोटा था. मैंने बहुत-सी बातें अपने बाऊजी और बड़े भाई साहब और दूसरे बुज़ुर्गों से सुन रखी हैं.....

बीच में एक कमसिन मिज़ाज प्रतिभागी ने टोक दिया–अच्छा यह बताएं पाकिस्तान कब बना ?

नई पीढ़ी के भोलेपन से मैं भी रंग गया–जब मेरे एक दोस्त मुहम्मद असलम के भाई साहब दसवीं में पढ़ते थे.

उसके चेहरे पर मा'सूमियत बरक़रार थी–पाकिस्तान क्यों बना ?

मैंने अपने मुंह को बच्चे का मुंह बना डाला–क्या पता ? हो सकता है, उस वक़्त अगर मुहम्मद असलम के भाई साहब दसवीं में न पढ़ते होते तो पाकिस्तान न बनता.

हँसी के साथ, ख़ूब सारी तालियां बज उठीं.

एल.आई.सी. के निदेशक यादव साहब जो उस वक़्त मुख्य अतिथि का रूप धारण किए, मेरी बग़ल में बैठे थे; धीरे से बोले–प्लीज़ ! हिन्दी के बारे में बताइए.

–ओ के सर, मैंने उनकी ओर देख कर कहा और फ़ौरन गर्दन को श्रोताओं की ओर घुमा दिया–पता है, ये हिन्दी कार्यशालाएं क्यों लगाई जाती हैं ?

अबकी, एक सच्चे बच्चे की भांति जवाब, उनके पी.ए. के मुंह से निकल पड़ा–यह हम लोगों की मजबूरी है. साल में अगर दो बार न लगाएं तो ऊपर से एक्स्प्लेनेशन कॉल हो सकता है.

मैंने अब गंभीर मुद्रा में माइक को अपने मुख की ओर ज़रा ज़्यादा मोड़ लिया–ठीक है. सब कार्यालयों में समय-समय पर हिन्दी दिवस, हिन्दी सप्ताह या हिन्दी पखवाड़े लगाए जाते हैं; यह इस बात पर निर्भर करता है, कि हमारे पास बजट कितना है ?

हामी में आयोजकों की गर्दनें नीचे-ऊपर हुईं.

मैंने सब पर तुष्टिभाव वाली नज़र डाली कि अब ये लोग धीरे-धीरे कंविस्डा की ओर बढ़ चले हैं. आगे मुझे गंभीरतापूर्वक सुनेंगे. तब मैंने तर्कों तथा दृष्टांत सहित लघु भाषण देकर यह सिद्ध किया कि वास्तव में 'राष्ट्रभाषा' और 'राष्ट्र प्रेम' में कोई अंतर नहीं होता. श्रोताओं ने ज़रा ज़ोर लगा कर चुपचाप मेरी बात सुनी, लेकिन कुछ को छोड़ उनके चेहरों से मुझे लगा कि इस में उन्हें ख़ास रस नहीं आया. बहुदा रास आने और रस आने में फ़र्क़ होता ही है. अल्जब्रा, गणित, जमेट्री में मास्टर साहब

सोदाहरण कई चीज़ें सिद्ध कर के दिखला देते थे. हम लोग मान ही जाते थे. जब सिद्ध हो चुका तो मानना तो पड़ेगा ही. लेकिन मानने और समझ में आने में अंतर होता है. बहुतों को ये सब अरसिक लगता था. ख़ैर.....

यादव साहब मुझसे बोले—अब आप, इन लोगों को ज़रा हिन्दी के बारे में बताएं. सहभागियों से भी कहा—आप में से यदि कोई सज्जन प्रश्न करना चाहें तो कर सकते हैं.

मैं गंभीरता के मूड में आ चुका था. भाषण वाले अंदाज़ से बोला (जैसा कि हमारे अधिकतर वरिष्ठ साहित्यकार बोलते हैं) तो मित्रो! हमें यह सोचना होगा कि मातृभाषा, राष्ट्रभाषा, राजभाषा में क्या-क्या अंतःसंबंध हैं. पहले इसी विषय पर थोड़ी बात कर ली जाए. हमें सोचना होगा कि आख़िर हम हिन्दी में काम क्यों करते है ? मैं बताता हूं.

मेरे बताने से पूर्व ही एक लड़की ने बता डाला—इससे हमें इनाम मिलता है. हम हिन्दी के जितने ज़्यादा शब्द लिखेंगे, हमें उतना ही बड़ा इनाम मिलेगा.

ऐसा मृदु वाक्य सुन कर मैं हैरत में जा पड़ा. हालांकि इस सत्य को झुठलाया कैसे जा सकता है—ठीक है, लेकिन.....

फिर से एक लड़के ने बड़े अदब से मेरी ओर देखा—साहब, आप भी तो रेलवे में थे. आपको भी बहुत से इनाम मिले होंगे.

मैंने उत्तर दिया—मैं रेलवे वायरलैस विभाग में था. वहां हिन्दी में काम होना संभव नहीं. हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा का कोई लेन-देन नहीं है. साहित्य एक अलग विषय है. हिन्दी तो राजभाषा के अंतर्गत आती है. मैंने किताबों में बहुत सारे शब्द लिखे. यदि ये शब्द फ़ाइलों, पत्राचार में लिखता; तो अवश्य कोई इनाम पा जाता.

—तो इसका मतलब हुआ कि, इतने बड़े साहित्यकार होने के बावजूद आपको कोई इनाम नहीं मिला ?

मैंने उत्तर दिया—वैसे तो कई दूसरे साहित्यिक संस्थानों ने मुझे कई पुरस्कार दिए, परन्तु रेलवे की अपनी मजबूरियां और सीमाएं होती हैं. फिर भी मैंने उन्हीं मानदण्डों को अपनाने की कोशिश कर देखी. आए दिन अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को हिन्दी में लंबी-लंबी मीमोएं देने लगा. मेरी शिकायत हो गई कि यह इंस्पेक्टर हमें बात-बेबात परेशान करता है.

मैं घबरा गया. अब तो मैं उन्हें अगर डांटता भी तो अंग्रेज़ी में, जो ज़्यादातर की समझ में न आती. और वे बुरा नहीं मानते.

फिर से तालियों की गूंज वापस लौट आई.

निदेशक महोदय ने कहा—प्लीज़ ओब्लाइज दैम टु टैल अबाउट हिन्दी.

मैंने बेचारगी से उनकी ओर देखा और–'श्योर सर' कहा, फिर जोड़ा–जहां तक मुझे पता है, हिन्दी में सामान्य होने वाली अशुद्धियों पर आपके मुख्य वक्ता तथा दूसरे सत्र में शालिनी जी बताएंगी और साथ में हिन्दी की प्रासंगिकता पर भी टिप्पणियां होंगी. वे प्रोफ़ेसर शालिनी जी भी, दूसरे हिन्दी विद्वानों की भांति आंकड़ों का हवाला दे कर फिर से सिद्ध करने में कोई कोरकसर नहीं छोड़ेंगी कि संसार में प्रत्येक दसवां आदमी हिन्दी जानता है. विदेशों में हिन्दी जानने वालों की संख्या साठ करोड़ है. हिन्दी बोलने वालों का भाषा की दृष्टि से तीसरा स्थान है. दक्षिण भारत में हिन्दी जानने वालों की संख्या पांच गुना है. वग़ैरह, वग़ैरह. यह सब कहूं तो दुहराव हो जाएगा, वैसे भी यह सब तथ्य आप लोगों को रट चुके होंगे. हां, यदि आप अनुमति दें तो मैं हिन्दी के महत्त्व और उत्कृष्टता के विषय में कुछ निवेदन कर, अपनी बात समाप्त करूं.

–हां हां कहिए ना ! (रोकता कौन है ?)

मैंने माइक को अपने होंठों से चूम लिया–हिन्दी को संत-सूफ़ियों ने अपनाया. पांच सौ से ज़्यादा मुसलमानों ने अपनी काव्य रचनाएं हिन्दी में की थीं. यह ऋषियों, मुनियों की भाषा है. हिन्दी देववाणी है. अब शायद चाय बन चुकी है. बाकी चीज़ें तो अतुल जी सविस्तार बताएंगे ही. मैं हिन्दी राजभाषा को इस मायने में अधिक महत्त्वपूर्ण मानता हूं, हो सकता है यह बात शालिनी जी न भी बताएं; वैसे वे ज़रूर पौन घंटे का पीरियड लेंगी. मैं केवल इतना जानता हूं कि हिन्दी ने हमेशा औरत को ऊंचा दरजा दिया है. नर में मात्रा के नाम पर शून्य होता है. वहां कोई मात्रा ही नहीं होती. लेकिन नारी स्त्री को 'बड़ी ई' की मात्रा के साथ लिखा जाता है. पत्नी को भी 'बड़ी ई' की मात्रा के साथ सुशोभित किया जाता है, जबकि पति को 'छोटी इ' की मात्रा दी जाती है.

तालियों की बयार से मेरे कान झूमने लगे. मैं लहरा कर माइक से हटने लगा तो वही कमसिन युवक बोल उठा–यूं नहीं सर, वैरी इंट्रैस्टिंग टॉपिक. आप मेन टॉपिक को यूं मत छोड़िए–आज हमारे नेता तक कहते नज़र आते हैं कि अंग्रेज़ी के बिना आज किसी का काम नहीं चल सकता. अंग्रेज़ी ज़माने में सुना है, उर्दू में अदालती कामकाज होते थे. आम आदमी को न्याय मिलता था.

मैंने दयनीय दृष्टि से यादव साहब की ओर देखा 'कह दूं ?' वे मेरे मनोभाव समझ गए–क्यों नहीं ? इन्हें और हमें भी सुनने का मौक़ा मिलेगा.

मैंने फिर से थोड़ी भाषण वाली मुद्रा बना ली–तो साहिबान सुनिए. बहुत संक्षेप में एक घटना सुनाता हूं. मैं तब इंटर में पढ़ता था. देहरादून से बरेली आ रहा था. गाड़ी में एक लंबे-तड़ंगे सरदारजी मिले थे. उन्हीं ने यह घटना 'बड़ा अच्छा ज़माना आ गया है जी' कहते हुए, मुझे सुनाई थी. हम लोग शुरू से ही गरम ख़ून वाले हैं.

बड़े ख़ानदानी. कई-कई मुरब्बों के मालिक. पाकसतान में कसूर के इक पिंड–एक गांव का नाम बताया–के रहने वाले. हमारे एक जवान शाहबज़ादे ने तलवार मार कर एक जने को क़तल कर दिया था. हमने पैसा पानी की तरह बहा दिया. फिर भी फांसी की सज़ा बहाल रही. हम बड़ी मुशकल से किसी तरह शिमला, वॉयसराय की कोठी पर, बहुत सारी क़ीमती सौग़ातें लेकर, जा पहुंचे. मत्था टेका. फ़रयाद लगाई. लड़का, नादान बच्चा ही तो है. ग़लती हो गई जी. आप हमारे, हमारे पूरे मुलक के बादशाह हो जी. बख़्श दें. वायसराय ने सारी सौग़ातों पर लात मारी. हमें डांट कर भगा दिया. लड़का फांसी चढ़ गया. अब देखिए; हिन्दुस्तान आज़ाद हुआ. हम अपना पिंड छोड़ कर इधर आ गए. होनी को कौन रोक सकता है. बताया ना जी. हमारा ख़ून शुरू से ही गरम है. यहां आकर फिर से हमारे एक रिश्तेदार ने क़तल कर डाला. आज़ाद देश में सिर्फ़ तीन हज़ार दे कर छूट गया. उन्होंने ठहाका लगाया. अब सब गंभीर थे. मैंने आगे कहा–अंग्रेज़ी शासन में अगर कोई सिपाही के तमग़े को छू भर लेता तो इसे गर्वनमेंट की तौहीन माना जाता. आज तो जैसे इज़्ज़त और तौहीन, हिलमिल कर गले मिल रही हैं. अंग्रेज़ अफ़सर अगर किसी कनिष्ठ को वरिष्ठ पद पर प्रमोट कर देता तो यही कहता यह पक्षपात नहीं है. यहां कोई हमारा रिश्तेदार नहीं बैठा हुआ. ऐफ़ीशेंसी की क़द्र तो होनी चाहिए.....

इतना कह कर मैं सहम गया कि मैं कहां से कहां जा पहुंचा. फिर से सुनने को मिलेगा, इन्हें हिन्दी राजभाषा के बारे में बताएं. मुझे अपने हिन्दी अज्ञान पर शर्म आने लगी. मैंने अपने अंदर जोश पैदा किया और दो चार नारे लगवा डाले. भारत माता की जय हो. हिन्दी से हिन्दोस्तान की शान है. हिन्दी भाषा अमर रहे. ज़िंदाबाद ज़िंदाबाद.

उस वक़्त तो माना यही गया था कि इतनी इंट्रैस्टिंग कार्यशाला न क़भी सुनी, न देखी. इसके बावजूद, उसके बा'द, मुझे आज तक किसी कंपनी कॉर्पोरेशन वग़ैरह ने नहीं बुलाया. इससे फिर से उन्हीं प्रोफ़ेशनल प्रोफ़ेसरों का बोलबाला बुलंद है, जो 45 मिनट का पीरियड लेते हैं. रटी हुई बातें रटवाते हैं. अंग्रेज़ी का विरोध अंग्रेज़ी में, हिन्दी के गुणगान अंग्रेज़ी में. मान कर चलते हैं कि मात्र हिन्दी राजभाषा से संगोष्ठियों में उत्साह नहीं भरा जा सकता.

हां, यह बताना भूल गया कि चाय पीते समय मैं सबसे बड़ी मीठी-मीठी बातें करता रहा था. और चलते वक़्त भी, उसी उम्मीद के तहत, आगे बढ़-बढ़ कर सबसे मैंने हाथ मिलाया था. ❑

5-ई-9 'संवाद', डुप्लैक्स कॉलोनी, बीकानेर-334003

किताब या कपड़े का थान

—मक़्बूल जान फ़्रॉम पाकिस्तान

'आपको अंदाज़ा है कि एक कपड़े की दुकान का व्यापारी चंद थानों के साथ अपने कारोबार का आग़ाज़ करता है और फिर एक दिन ऐसा आता है कि वो या तो किसी बहुत बड़ी फ़ैक्टरी का मालिक बन जाता है या फिर उसकी दुकान एक बहुत बड़े सुपर स्टोर में तब्दील हो जाती है और दूसरी तरफ़ आप हैं पचास साल से इस इदारे के सरबराह हैं, हर साल किताबें छापते हैं और एक पैसे का मुनाफ़ा भी कमा कर नहीं लाते.....' ये वो अल्फ़ाज़ हैं जो ता'लीम के महकमे के एक होनहार ब्यूरोक्रेट ने पाकिस्तान के नामवर अदीब और मज्लिसे-तरक़्क़ी ए-अदब के डायरेक्टर अहमद नदीम क़ासिमी को कहे और उन्होंने चंद दिन बा'द उससे इस्ते'फ़ा दे दिया. मैं इस इस्ते'फ़ा में लिखे हुए फ़िक़रे पढ़ता हूं, तो मुझे तीन हवालों से रोना आता है. एक इसलिये कि मैं उस बदक़िस्मत क़ौम का फ़र्द हूं, जहां इल्म और कपड़े के थान का मुवाज़ना (तुलना) किया गया. दूसरा ये कि मैं ब्यूरोक्रेट हूं और ये फ़ख़्र भी मेरी बरादरी को हासिल हुआ और तीसरा इसलिये कि मैं शाइर और अदीब हूं और ऐसा ता'ना सुनने वाला भी मेरे क़बीले और घर का आदमी है. अहमद नदीम क़ासिमी ने अपने इस्ते'फ़ा में लिखा है कि 'मुझे शर्म आती है कि एक ऐसे अदबी इदारे, जो आलमी शुह्रत रखता है, उसका मुवाज़ना एक क्लॉथ मर्चेंट शॉप से किया गया. मैं अपने आप को इस क़ाबिल नहीं समझता कि ये दुकान चला सकूं और अब मैं उम्र के इस हिस्से में हूं कि मेरे लिये बहुत मुश्किल है कि मैं पहले जाहिलों को सिखाऊं कि इल्म क्या होता है और उसकी हैसियत क्या होती है और फिर उनके साथ काम करूं!'

माल रोड, लाहौर पर फ़ाइव स्टार होटल से क़रीब और पंजाब के हाकिमों, वज़ीरों और ब्यूरोक्रेटों के जन्नतनुमा रिहाइशी इलाक़ा जी.ओ.आर. के ऐन कोने पर इदारा 'मज्लिसे-तरक़्क़ी-ए-अदब' की पुरानी और ख़स्ताहाल इमारत है.

ये वो जगह है जहां हम ऐन जवानी के आलम में बर्रे-सग़ीर (उप महाद्वीप) के पुराने ज़मानों में लिखी गयी वो किताबें सस्ते दामों ख़रीदने जाया करते थे, जिनकी शुह्रत पूरी दुन्या के अदबी मंज़रनामे पर जगमगाती है. चाहे वो दास्ताने-अमीर हम्ज़ा थी या क़िस्सा-चहार दरवेश. मीर का दीवान था या सौदा की शाइरी, ख़ुशहालख़ां

ख़टक के नग़्मे थे या शाह लतीफ़ का दीवान. ये सब इतने सस्ते दामों से इस मज्लिस के दफ़्तर से मिलते कि पढ़ाई के ज़माने में भी किताब ख़रीदते वक़्त ग़रीबी का एहसास न होता. दुन्या के बड़े-बड़े अदीबों, साइंसदानों और शख़्सियात की किताबें एक या दो रुपये में मिल जाया करती थीं. मैंने ख़ुद रसल की किताब 'सोसायटी पर साइंस के असरात' सिर्फ़ डेढ़ रुपये में यहां से ख़रीदी. आज भी किताबों की क़ीमतों के तूफ़ान में मज्लिस की क़ीमतों की रसाई ग़रीब पढ़ने वाले की जेब तक थी.

पचास साल पहले इम्तियाज़ अली ताज की सरबराही में खुलने वाला ये इदारा जिसे बा'द में प्रोफ़ेसर हमीद अहमदख़ां की सरबराही का शरफ़ हासिल हुआ, आज अहमद नदीम क़ासिमी के इस्ते'फ़े के बा'द अपनी ख़स्ताहाल इमारत और किताबों के ढेर के साथ एक सवालिया निशान है, उस क़ौम के लिये जिसके पुरखों ने इल्म की वो शम्एं रौशन की थीं कि दुन्या की कोई यूनिवर्सिटी, कोई लाइब्रेरी या म्यूज़ियम उनके बग़ैर मुकम्मल नहीं हो पाता. वो पूर्व की दानाई जिसे Wisdom of East कहते हुए यूरोप के जंगजू भी यहां आ कर उसे महफ़ूज़ करने की कोशिश करते थे. हिंदुस्तान फ़त्ह करने के बा'द फ़ोर्ट विलियम कॉलेज जैसा इदारा क़ाइम करते थे, ताकि चाणक्य के अर्थ-शास्त्र से कालिदास की 'शकुंतला' तक और अलबैरूनी की 'तारीखें-हिंद' से क़ाइम 'फ़रिश्ता की तारीख़', सब इल्म के सरमाये के तौर पर महफ़ूज़ हो जाए. जब मीर अम्मन और रजबअली बेग सरवर 'फ़सान-ए-अजाइब' और 'दास्ताने-अमीर हम्ज़ा' तहरीर कर रहे थे और ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्ताधर्ताओं ने भी उन से ये सवाल न किया होगा कि इस काम से बेहतर है कि मलमल या लट्ठे की एक फ़ैक्टरी लगा दी जाए.

लेकिन ये इफ़्तिख़ार (गौरव) तो हमारे दौर में और हमारी नस्ल को मिलना था कि हम किताब को तराज़ू के एक पलड़े में रखें और कपड़े के थान को दूसरे पलड़े में और खिलखिला कर हंसें कि देखो, किताब का तो कोई वज़्न ही नहीं है. मेरे दोस्त मुझे अक्सर कहते हैं, हमारी किताब से दोस्ती टी.वी. ने या इंटरनेट ने छीनी है, वर्ना हम तो इल्म के आशिक़ लोग थे और मैं हैरान हो कर जवाब देता हूं, ये दोनों चीज़ें तो यूरोप और अमेरिका में हम से कहीं ज़ियादः है. फिर क्या मस्अला है कि आज के दौर में भी सिर्फ़ एक माह पहले हेरी पोटर की किताब मार्केट में आती है और पहला एडिशन 30 लाख कॉपियों में फ़रोख़्त होता है.

जिस यूरोप और जिस अमेरिका ने तरक़्क़ी की, उनकी ज़ुबान जिसे बोलने पर आज हम फ़ख़्र से सर बलंद करते हैं, सिर्फ़ दो सौ साल पहले तक दुन्या में कोई पहचान ही नहीं रखती थी. लेकिन बस एक जुनून था कि दुन्या में चाहे क़ुर्आन हो या साइंसी किताब, शाइरी हो या ड्रामा, फ़ल्सफ़ा हो या तारीख़, अगर ये अरबी है, जर्मन में है, फ़्रांसीसी में है तो रातों-रात बैठ कर उसको अंग्रेज़ी में मुंतक़िल किया गया. वहां सन्अती इंक़िलाब आ चुका था, लेकिन जिस इंक़िलाब की वो तमन्ना रखते थे, सिर्फ़

इल्म के दरवाज़े पर दस्तक देने से आया और आज अंग्रेज़ी से बिदकने वाले फ़्रांसीसी, जर्मन और जापानी तक अंग्रेज़ी बोलने पर मज्बूर हैं.

हमारा अलमीया ये है कि न हम अपने माज़ी के इल्मी ख़ज़ानों से मुहब्बत करते हैं और न उनकी मशक़्क़त और लगन को अपना आयडियल बनाते हैं. और न ही हम तरक़्क़ी का वो रास्ता जो दूसरों ने अपनाया, जो इल्म के दरवाज़े से होकर जाता था, उसको अपनाना चाहते हैं. इसके बावजूद भी हम ये समझते हैं कि हम तरक़्क़ी कर जाएंगे. सिर्फ़ ग्यारह मिलियन डॉलर के ज़ख़ीरे स्टेट बैंक में रख कर बड़ी-बड़ी गाड़ियां और आसाइश के सामान दरामद करके, चंद फ़ैक्टरियां लगा कर, हम समझते हैं कि तरक़्क़ीयाफ़्ता लोगों के हमपल्ला आ जाएंगे, ये सब काम दुन्या के हर मुल्क ने किये जिसने तरक़्क़ी की. लेकिन अगर इंग्लिस्तान में फ़ैक्टरियों में बच्चों की मज़्दूरी पर ऑलिवर ट्विस्ट लिखने वाला चार्ल्स डिकन्स जन्म न लेता, तो शायद वहां के रहने वाले भी आज हमारी तरह मातम कर रहे होते कि हम से किताब की दोस्ती किसने छीनी ? टी.वी. ने या इंटरनेट ने ? हमारे यहां ज़ुल्म क्यों है ? समाजी नाइंसाफ़ियां क्यों हैं ? हमारे हां ज़बान व बयान की आज़ादी क्यों नहीं है ? *ये सब कुछ तो किताब देती है और हम कपड़े का थान चाहते हैं.....!* ❑

(नई दुन्या, नई दिल्ली, 30/10 से 5/11/03)

किताबें-2

—गुलज़ार

किताबें झांकती हैं बंद अलमारियों के शीशे से
बड़ी हस्रत से तकती हैं / महीनों अब मुलाक़ातें नहीं होतीं
जो शामें उनकी सुह्बत में कटा करती थीं, अब अक्सर
गुज़र जाती हैं कम्प्यूटर के पर्दों पर
बड़ी बेचैन रहती हैं किताबें—
उन्हें अब नींद में चलने की आदत हो गयी है
बड़ी हस्रत से तकती हैं / जो क़द्रें वो सुनाती थीं—
कि जिनके सेल कभी मरते नहीं थे
वो क़द्रें अब नज़र आती नहीं घर में
जो रिश्ते वो सुनाती थीं / वो सारे उधड़े-उधड़े हैं
कोई सफ़्हा पलटता हूं तो इक सिसकी निकलती है
कई लफ़्ज़ों के मा'नी गिर पड़े हैं
बिना पत्तों के सूखे टुण्ड लगते हैं वो सब अल्फ़ाज़
जिन पर अब कोई मा'नी नहीं उगते
बहुत-सी इस्तिलाहें हैं— (परिभाषाएं)
जो मिट्टी के सिकोरों की तरह बिखरी पड़ी हैं
गिलासों ने उन्हें मत्रूक कर डाला! (तर्क किया हुआ)
ज़बां पर ज़ाइक़ा आता था जो सफ़्हे पलटने का
अब उंगली क्लिक करने से बस इक / झपकी गुज़रती है—
बहुत कुछ तह-ब-तह खुलता चला जाता है पर्दे पर
किताबों से जो ज़ाती राबिता था, कट गया है (सम्पर्क)
कभी सीने पर रख के लेट जाते थे / कभी गोदी में लेते थे
कभी घुटनों को अपने रेहल की सूरत बनाकर
नीम सज्दे में पढ़ा करते थे, छूते थे जबीं से
ख़ुदा ने चाहा तो वो सारा इल्म तो मिलता रहेगा बा'द में भी
मगर वो जो किताबों में मिला करते थे सूखे फूल और
और महके हुए रुक़्ए
किताबें मांगने, गिरने, उठाने के बहाने रिश्ते बनते थे
उनका क्या होगा? / वो शायद अब नहीं होंगे? ❑

(उर्दू मर्कज़ अज़ीमाबाद, पटना)
'बोस्कियाना', पाली हिल, बांद्रा, मुंबई

किताबें-3

—प्रदीप 'साहिल'

किताबें.....
किताबें साथ चलती हैं
अँधेरों में
उजालों में
दिमाग़ों को खुरचती हैं
दिलों में आग भरती हैं
उफनती हैं
बिफरती हैं
हमेशा की तरह अब भी
नई राहें बनाती हैं
पुराने राहगीरों को
पुराने रहनुमाओं को
नये उन्वान देती हैं
नये सपने दिखाती हैं
किताबें.....

किताबें साथ रहती हैं
कि जब कुछ भी नहीं रहता
किताबें साथ होती हैं
कि जब कोई नहीं होता
किताबें जंग लड़ती हैं
किताबें गीत गाती हैं
किताबें दर्द बुनती हैं
किताबें आज़माती हैं
किताबें.....

कई किरदार ऐसे भी
किताबों से उभरते हैं
ख़यालो-ख़्वाब होते हैं
गुमानो-वहम होते हैं
मगर सच्चे-से लगते हैं
नहीं होते कहीं भी वो
मगर होते हैं हर जानिब
कभी सूफ़ी
कभी शाइर
कभी वाइज़ (उपदेशक)
कभी मयकश
कभी हाजी
कभी काफ़िर
बहरसूरत
बहर लम्हा
हमेशा साथ रहते हैं
कभी ताकीद करते हैं ज़माने को बदलने की
कभी ताकीद करते हैं किसी साँचे में ढलने की
कई किरदार ऐसे भी.....

किताबों की कोई सीमा, कोई सरहद नहीं होती
ये धरती, चाँद, सूरज.....सब किताबों के नविश्ते (लेखपत्र) *हैं*
किताबों में अँधेरे ही नहीं पाते हैं बीनाई
उजाले भी किताबों से निखरते हैं, सँवरते हैं
किताबें..... ❑

चाणक्य स्टोर, A-1715, जहांगीरपुरी, देहली-33

किताबदार

—नय्यर मस्ऊद

किताबख़ाने में किताबों की ख़रीदारी नहीं होती थी, लेकिन वहां पहले ही से बहुत किताबें मौजूद थीं. ये किताबें हर क़िस्म की थीं, इसलिये कि जिन लोगों ने अतीये के तौर पर ये किताबें दी थीं, उनमें हर मज़ाक़ के लोग थे. ये दरअस्ल किसी बड़े वक़्फ़ का किताबख़ाना था. वक़्फ़ की इमारत के पहलू से एक तंग ज़ीना ऊपर की मंज़िल को जाता था. ज़ीना ख़त्म होने के बाद थोड़ी-सी खुली हुई जगह थी, उसके बा'द तीन दराज़ों वाला एक दोहरा कमरा था. किताबख़ाना उसी कमरे में था. कमरे में दीवारी-अलमारियां बहुत थीं. उन सब अलमारियों में किताबें भरी हुई थीं. किताबें साफ़-सुथरी और अच्छी हालत में थीं. उनमें ज़ियादातर की जिल्दें मज़्बूत थीं और हाल ही की बंधी हुई मा'लूम होती थीं. उस कमरे के दो दरवाज़े हमेशा तालाबंद रहते थे. आने-जाने वाले के लिये एक दरवाज़ा आधा खुला रहता था. खिड़कियां भी कई थीं, लेकिन ये भी हमेशा बंद रहती थीं. सिर्फ़ पूर्वी दीवार की एक खिड़की खुलती थी. उसमें लोहे की जाली लगी हुई थी और उसके पार बाहर का मन्ज़र दिखायी देता था. उस मंज़र में बस मकानों के पिछवाड़े और एक नानबाई की दुकान थी. दुकान की वज्ह से कुछ कुत्ते भी मौजूद रहते थे.

खिड़की के पास दो-तीन तख़्त पड़े हुए थे जो किताबख़ाने में आकर किताबें पढ़ने वालों के लिये थे. खिड़की की वज्ह से किताबख़ाने के इस कोने में बाहर की रौशनी फैल जाती थी. खिड़की बंद होती, तो बाहर से आने वालों को थोड़ी देर तक कुछ नज़र न आता था, अलबत्ता काग़ज़ों की ख़ुशबू से पता चलता कि वो जिस जगह है, वहां किताबें हैं. ज़रा देर के बा'द उसे अलमारियां नज़र आतीं. जब उसकी आंखें रौशनी की कुछ और आदी हो जातीं, तो उसे दाहिनी तरफ़ बैठा हुआ किताबदार नज़र आता.

किताबख़ाने में तैनाती के वक़्त वो जवान था. उस वक़्त किताबख़ाने की हालत अच्छी नहीं थी. इसलिये कि वहां उस ज़माने में काफ़ी लोग किताबें पढ़ने के लिये

आते थे. उनके पन्ने पलटने की वज्ह से किताबों की सूरत बिगड़ी हुई थी. उनकी सिलाई ढीली हो जाती और कुछ की जिल्दें अलग हो गयी थीं. एक बूढ़ा दफ़्तरी किताबख़ाने का मुलाज़िम था. वो जिल्दों वग़ैरह को मा'मूली तौर पर दुरुस्त कर देता था. किताबदार ने काम संभालने के बा'द सबसे पहले उसे जिल्दसाज़ी और किताबों की मरम्मत का मुनासिब सामान मंगा कर दिया और अपनी निगरानी में किताबों की मरम्मत शुरू करवा दी. दफ़्तरी अपने काम में माहिर था. बातें बहुत करता था. उसकी एक बेटी बीमार रहती थी और वो ज़ियादातर उसी के बारे में बातें करता था. लेकिन उसका हाथ नहीं रुकता था और उसने बड़ी ता'दाद में किताबों को दुरुस्त कर दिया, लेकिन एक दिन किताबदार को इत्तिला मिली कि वो बीमार हो गया है. फिर मा'लूम हुआ कि उसकी हालत अच्छी नहीं है. किताबदार उसे देखने गया. उस वक़्त दफ़्तरी की हालत बिगड़ चुकी थी, लेकिन उस हालत में भी वो बेटी की दवा वग़ैरह को पूछ रहा था. तीसरे दिन दफ़्तरी की ख़बर आ गयी. उसकी जगह उसके बेटे को रखा गया. वो बाप की तरह माहिर तो नहीं था, फिर भी उसका काम ग़नीमत था. लेकिन एक महीने के अंदर उसे सेहत के महकमे में कोई नौकरी मिल गयी. उस के बा'द दफ़्तरी की असामी ख़ाली रही. लेकिन किताबदार बूढ़े दफ़्तरी का काम देखते-देखते ख़ुद काम सीख गया था, इसलिये फ़ुर्सत के वक़्त वो ख़ुद ही किताबों की मरम्मत वग़ैरह कर लिया करता था. आख़िर सब किताबें बिल्कुल दुरुस्त होकर अलमारियों में सज गयीं. किताबदार भी हर किताब को उसकी सूरत से पहचानने लगा. किताबों की तर्तीब और फ़ेहरिस्तसाज़ी का, उसका अपना तरीक़ा था और वो बहुत आसानी से हर किताब निकाल सकता था, लेकिन दूसरों को उसमें मुश्किल पड़ती थी और वो अपनी ज़ुरूरत की किताब आसानी से तलाश नहीं कर सकते थे. उन्हें तलाश करने की ज़ुरूरत भी नहीं थी. किताबदार किताब का नाम सुनते ही बता देता कि वो किताब मौजूद है या नहीं. अगर मौजूद होती तो फ़ौरन निकाल कर सामने रख देता.

उस वक़्त किताबख़ाने में तरह-तरह के लोग आते थे. स्टुडेंट भी बहुत आते थे. किताबदार उन को एक नज़र देखते ही समझ लेता कि स्टुडेंट हैं. उनके इलावा भी वो अक्सर लोगों के बारे में अंदाज़ा रखता था कि उन्हें किस तरह की किताबें देखना हैं. लेकिन एक दिन एक ऐसा आदमी आ गया जिसका पढ़ने-लिखने से संबंध मालूम नहीं होता था. उसने एक पर्चा किताबदार के हाथ में दिया. उस पर जिन किताबों के नाम लिखे हुए थे, उनमें एक धार्मिक विषय की मशहूर किताब थी, एक उसी किताब का जवाब था, दो किताबें दस्तकारी से संबंध रखती थीं और एक किसी रंगीन मिज़ाज शख़्स की आपबीती थी जो बेराहरवी की ज़िंदगी गुज़ारने के बा'द लगातार कई रातों तक एक ही ख़्वाब देख कर सुधर गया था. ये वो किताबें थीं जो किताबख़ाने में

मौजूद थीं. उनके अलावा भी कुछ किताबों के नाम थे. किताबदार कुछ देर तक फ़ेहरिस्त को देखता और उस आदमी के बारे में क़यास लगाता रहा. फिर उसने मौजूद किताबों पर निशान लगा कर पर्चा उसे वापस कर दिया. उस आदमी ने पर्चे को सरसरी देख कर कहा, "ये सब निकाल दीजिये."

किताबदार ने उसकी तरफ़ देखा और वो बोला, "एक ही बार में निकाल दीजिये. आप के चक्कर बच जाएंगे."

किताबदार ने सब किताबें निकाल कर एक तख़्त पर रख दीं. उसने वापस जाते-जाते देखा कि उस आदमी ने जल्दी-जल्दी एक किताब के पन्ने पलटना शुरू कर दिये हैं. एक डेढ़ घंटे के अंदर उसने सब किताबें किताबदार के सामने ला कर रख दीं और उसका शुक्रिया अदा कर के चला गया.

दूसरे दिन एक और आदमी आया. उसने भी वही किताबें निकलवायीं. और उसी तरह किताबों के पन्ने उलट-पुलट कर वापस चला गया. उस वक़्त दो छात्र भी किताबख़ाने में मौजूद थे. उस आदमी के जाने के बा'द एक बोला, "पहेलियों वाले यहां भी पहुंच गये!"

फिर वे दोनों आपस में बातें करने लगे. उनकी आवाज़ें बहुत धीमी थीं, इसलिये कि किताबख़ाने के अंदर ज़ोर-ज़ोर से बोलना मना' था. मना' तो नहीं था, लेकिन वहां आकर लोग ख़ुद ही धीमी आवाज़ में बात करते थे. किताबदार को छात्रों की बातों से मा'लूम हुआ कि कोई बहुत मशहूर वर्ग पहेली है जिसके इशारे छपी हुई किताबों से लिये जाते हैं. पहेली हल करने वालों की तरफ़ से बाक़ाइदा सुराग़ लगाया जाता कि उस पहेली के दफ़्तर में कौन-कौन-सी किताबें पढ़ी जा रही हैं. फिर वे उन किताबों को देखते थे कि शायद उनमें से कोई वाक्य पहेली में इस्ते'माल हुआ हो. इसी सिलसिले में वे दोनों यहां आये थे. उन्हें किताबों के विषय वग़ैरह से कोई सरोकार नहीं था और उन वाक्यों के मत्लब से भी ग़रज़ नहीं थी. वे उनमें सिर्फ़ वांछित शब्द वाला वाक्य तलाश करते थे.

किताबदार देर तक कुछ सोचता रहा. फिर उसने एक बड़े-से काग़ज़ पर मोटे अक्षरों से लिखना शुरू किया :

"कृपया पहेली वाले श्रीमान्....."

फिर उसका क़लम रुक गया. क़लम हाथ में लिये वो बहुत देर तक सोचता रहा, यहां तक कि किताबख़ाने में एक और शख़्स दाख़िल हुआ. किताबदार उसको पहचानता था. वो बहुत दिनों से आ रहा था और हमेशा एक ही किताब से कुछ नक़्ल करता था. वो बहुत मोटी और भारी किताब थी और अब किताबदार उसके जाने के बा'द किताब को अलमारी में वापस रखने के बजाय वहीं तख़्त पर रखी रहने देता था. आज जब वो शख़्स आया, तो किताबदार ने अपने हाथ का काग़ज़ एक तरफ़

रखा और उसकी तरफ़ देखने लगा. वो सीधा तख़्त की तरफ़ गया. किताब उठायी और लिखने बैठ गया. कुछ देर बा'द सर उठाया और थके-थके लहजे में बोला, "अभी बहुत बाक़ी है."

दूसरे दिन वो नहीं आया, तीसरे दिन भी नहीं आया. आख़िर किताब उठायी और अलमारी में रख दी.

कुछ लोग किताबख़ाने में ऐसे भी आते थे जिनका किताबदार को इंतिज़ार रहता था. उनमें एक दीवाना-सा आदमी भी था. उसकी आवाज़ बहुत दूर से सुनायी देने लगती थी. ज़ियादातर वो अपने आप से बातें करता था या कुत्तों को समझाता था कि उस पर न भौंकें. मगर किताबख़ाने में आकर उसकी आवाज़ धीमी हो जाती. वो बहुत सभ्य ढंग से किताबदार से सलाम करता, उसका मिज़ाज पूछता और सीधा उस अलमारी की तरफ़ चला जाता जिसमें अध्यात्म की किताबें रहती थीं. वो कोई किताब निकलवाता और ख़ामोशी के साथ उसे पढ़ता रहता. कभी-कभी एक काग़ज़ पर कुछ लिखता और कभी पढ़ते-पढ़ते उस पर जोश-सा तारी हो जाता, लेकिन उस वक़्त भी वो मुट्ठियां भींच कर ख़ुद पर क़ाबू पा लेता और ज़ियादा से ज़ियादा ये करता कि उठ कर किताबदार के पास आ जाता, अगर किताबदार किसी काम में व्यस्त न होता, तो दीवाने की तरफ़ देख कर मुस्कराता और दीवाना रूह के बारे में अपना ज़ाती नज़रीया मुख़्तसर बयान करके वापस जा बैठता. उसके जाने के बा'द किताबदार वो काग़ज़ उठाता जिस पर उसने कुछ लिखा होता और उसे रद्दी में डाल देता. नामी साहब ने किताबदार को बताया था कि रूहों के बारे में अध्ययन करते-करते उसका दिमाग़ चल गया था और अब वो इलाज के तौर पर भी रूहों के बारे में अध्ययन कर रहा था. कभी नामी साहब उसकी मौजूदगी में आ पहुंचते तो सीधे उसके पास जाते और दोनों देर तक चुपके-चुपके बातें करते रहते. फिर दीवाने ने किताबख़ाने में आना छोड़ दिया. नामी साहब ने बताया कि उसे उसके रिश्तेदार किसी दूसरे शह्‍र ले गये हैं.

नामी साहब किताबख़ाने में नियमित आने वालों में थे और किताबदार की तै'नाती के पहले से आ रहे थे. वो हर अलमारी की हर किताब पढ़ने का इरादा रखते थे और कई अलमारियां पढ़ चुके थे. शह्‍र के हर क्षेत्र में उनका उठना-बैठना था. वो बहुत ख़ुशमिज़ाज आदमी थे और उनके आने से नीम अंधेरे किताबख़ाने में रौशनी-सी फैल जाती थी. पढ़ते-पढ़ते जब वो थक जाते तो किताबदार के पास आ बैठते और कहते, "और सुनाइये, क्या हाल-चाल हैं ?"

इसके बा'द वो ख़ुद ही अपना और शह्‍र का हाल बताना शुरू कर देते. फिर उठ कर अपनी किताब के पास चले जाते और पढ़ते रहते यहां तक कि उनका एक दोस्त उन्हें ले जाने के लिये आ जाता. किताबदार को नामी साहब और उनके दोस्त दोनों का इंतिज़ार रहता था. वो सिर्फ़ नामी साहब से बेतकल्लुफ़ था, या यूं कहना

चाहिये कि सिर्फ़ नामी साहब उससे बेतकल्लुफ़ थे और उससे ख़ूब बातें करते थे. नामी साहब ही ने उसे 'किताबदार' कहना शुरू किया था, वर्ना नौकरी के काग़ज़ात में उसे 'लाइब्रेरियन' लिखा जाता था. किताबदार के ठीक-ठीक अर्थ उसे नहीं मा'लूम थे, लेकिन ये नाम उसे अच्छा लगता था और ये नाम देने की वज्ह से नामी साहब भी अच्छे लगते थे.

एक लड़का भी किताबख़ाने में पाबंदी से आता था. वो कोई भी किताब निकलवा लेता और देर तक पढ़ता रहता था. वो दस-ग्यारह साल की उम्र से किताबख़ाने में आ रहा था. कमज़ोर-सा लड़का था और उसका चेहरा हर वक़्त तमतमाया रहता था. नामी साहब उस लड़के से भी साहिब-सलामत रखते थे. वो शायद उसके किसी बुज़ुर्ग के दोस्त थे. वो पंद्रह सोलह साल की उम्र तक किताबख़ाने में आता रहा. उसके बा'द किताबख़ाना आम लोगों के लिये बंद कर दिया गया.

किताबदार को सिर्फ़ इतना मा'लूम हुआ कि वक़्फ़ से संबंधित कुछ झगड़े उठ खड़े हुए हैं. लेकिन उसकी नौकरी बहाल रही. उसे बताया गया कि अब सिर्फ़ वे लोग किताबख़ाने में आ सकते हैं जिन को वक़्फ़ के ज़िम्मेदारों की तरफ़ से ख़ास इजाज़तनामा दिया गया हो. लेकिन किताबदार ने इजाज़तनामे की शक्ल नहीं देखी, इसलिये कि इस शर्त के बा'द से लोगों का किताबख़ाने में आना एकदम बंद हो गया.

इस अर्से में किताबदार की ज़िंदगी में भी कई बदलाव आ गये थे. उसकी बीवी और दोनों बेटियां एक के बाद एक ख़त्म हो गयीं. बीवी तो हमेशा की बीमार थीं, लेकिन बेटियां तन्दुरुस्त थीं. छोटी बेटी को वो बहुत चाहता था. वो उसका ख़याल भी बहुत रखती थी. उसके मरने के बा'द से वो घर में कम टिकता था. ज़ियादातर किताबख़ाने में रहता था. उसका काम अब सिर्फ़ किताबों की देखभाल रह गया था. किताबख़ाना सीलन से सुरक्षित था. दीमक भी वहां नहीं पहुंची थी, अलबत्ता छोटे-छोटे कीड़े किताबों में छेद कर देते थे और वो उन्हीं किताबों की मरम्मत किया करता था.

तनख़्वाह उसको पाबंदी से नहीं मिलती थी, लेकिन अब उसका ख़र्च भी खाने के सिवा कुछ नहीं था और खाना भी अक्सर नाग़ा कर दिया करता था. भूख ही नहीं लगती थी.

इसी ज़माने में एक दफ़ा जब वो खाना खाने के लिये निकला, तो उसे एक ख़ुश लिबास आदमी किताबख़ाने की तरफ़ आता दिखायी दिया. उसने किताबदार को सलाम किया और उसके क़रीब आ कर रुक गया.

''आपने मुझे पहचाना नहीं ? मैं किताबख़ाने में बहुत आता था.''

किताबदार ने उसे ज़रा दिक़्क़त के साथ पहचान लिया. अब वो किसी अच्छी

जगह काम करता था.

"मैंने यहां बहुत पढ़ा है", उसने बताया, "बहुत दिन बा'द इधर आया तो सोचा आपको सलाम करता चलूं."

इसके बा'द वो अपनी नौकरी की तफ़्सील बताता रहा, फिर किताबदार से हाथ मिला कर रुख़सत हो गया.

किताबें अब तेज़ी से ख़राब हो रही थीं. इस बात को किताबदार भी महसूस कर रहा था. कीड़ों के किये हुए छेद उसे आसानी से नज़र नहीं आते थे और वो किताबों की हालत का अंदाज़ा करने के लिये उन्हें खिड़की के क़रीब ला कर देखता था और वहां भी उसे किताब को आंखों के बिल्कुल क़रीब लाकर देखना पड़ता था. उसने वक़्फ़ को लिखा कि किताबख़ाने के लिये कोई नया लाइब्रेरियन मुक़र्रर किया जाये, फिर कई बार याद भी दिलाया, लेकिन वक़्फ़ की तरफ़ से कोई कार्रवाई नहीं हुई.

अब उसे दूर की चीज़ें साफ़ नज़र नहीं आती थीं और वो किताबख़ाने की छत के परनालों को भी नहीं देख सकता था जिन से होकर बरसात का पानी बाहर निकल जाता था. ये परनाले छत से कुछ आगे को निकले हुए थे जिसकी वज्ह से पानी किताबख़ाने की दीवारों से दूर हटकर गिरता था. अब उनमें से एक परनाला टूट-फूट गया था और उस तरफ़ का पानी कुछ परनाले में से होकर और कुछ दीवार से मिला-मिला बहता था.

बरसात के मौसम में एक दिन वो खिड़की की रौशनी में एक किताब देख कर उसे वापस रखने के लिये अलमारियों की तरफ़ जा रहा था, तो उसे दूर की एक अलमारी के पास नामी साहब खड़े दिखायी दिये. वो बड़ी गर्मजोशी से उनकी तरफ़ बढ़ा. नामी साहब भी तेज़ी से उसके क़रीब आने लगे, लेकिन दो-तीन क़दम चल कर लड़खड़ा-से गये और फिर ख़ुद को संभाल कर खड़े हो गये. किताबदार भी रुक गया. किताब उसके हाथ से फिसलती हुई फ़र्श पर गिर पड़ी. नामी साहब ने किताब को गिरते देखा. उसे संभालने के लिये बढ़े, लेकिन फिर लड़खड़ा गये. इसके बा'द दोनों ख़ामोश खड़े एक दूसरे को देखते रहे, यहां तक कि एक और अलमारी के पास आहट हुई और नामी साहब का दोस्त बढ़ कर क़रीब आ गया. उस वक़्त बाहर सूरज पर शायद बादल का कोई भारी टुकड़ा आ गया और कुछ देर के लिये किताबख़ाने में अंधेरा छा गया. जब वो टुकड़ा हटा तो किताबख़ाने में सिर्फ़ किताबदार था, बल्कि वो भी नहीं था! ❑

मिट्टी में सने हुए लोग

पाब्लो नेरूदा

मिट्टी में सने हुए लोग
वो मुझे अच्छी तरह याद है
उसे देखे कोई दो सदियां गुज़र गयीं
मुझे याद है वो सफ़र को निकलता तो गाड़ी में बैठता, न घुड़सवारी करता
बस पैदल चलते-चलते अपनी मुसाफ़तें तै करता जाता
मैंने उसके पास कोई भाला, तलवार, कोई हथियार नहीं देखा
उसके कांधे पर माहीगिरी का जाल होता था
या कुल्हाड़ी और हथौड़ा या फावड़ा और कुदाल
उसने अपने जैसे किसी दूसरे से कभी जंग नहीं की
उसकी लड़ाई या तो पानी से थी या मिट्टी से
या गेहूं से, रोटी बनाने के लिए
बलंद व बाला पेड़ से थी उसकी लड़ाई
कि चीज़ें गढ़ने के लिए वो उसे अपना आप पेश कर दे
उसकी लड़ाई तो दीवार से थी कि वो उसे दरवाज़ा फोड़ने दे!
रेत से थी कि उसे गूंध कर वो दीवार खड़ी कर ले
समंदर से थी उसकी लड़ाई
ताकि वो उसके लिए अपनी नै'मतें उगल दे

मैं उस आदमी को हमेशा से जानता हूं
वो आज भी मेरे साथ है
गाड़ियां मुसाफ़तें तै करती टुकड़े-टुकड़े हो गयीं
जंग ने दरवाज़े गिरा दिये, दीवारें ढहा दीं
शह्र ख़ाक का ढेर बन गये
चमकीली पोशाकें गल कर मिट्टी हो गयीं
पर वो आदमी आज भी ज़िंदा है
मेरी ख़ातिर रेत में सना हुआ आज भी खड़ा है वो
रेत में—जहां उसके सिवा हर चीज़, गाड़ियां, दरवाज़े, शह्र
पोशाकें (हर चीज़) बहुत पायेदार लगती थीं
वहां आज भी सीना ताने खड़ा है वो ❑

(तर्जुमा : असद मुहम्मद ख़ां)
(शबख़ून-जुलाई 03)

मैं यहीं रहूंगा

मैं अपना मुल्क बटा हुआ नहीं चाहता
और न ही वो दिन आए कि इसे ख़ंजरों से लहूलुहान देखूं
मैं तो चिली की रौशनी को बहुत ऊंचाई पर
नये बने मकानों के ऊपर लगी देखना चाहता हूं

मेरे मुल्क में हम सब के लिए गुंजाइश मौजूद है

और वो लोग जो ये सोचते हैं कि वो क़ैदी हैं
मुनासिब है कि वो यहां से बहुत दूर कहीं और जा बसें

अमीर लोग तो हमेशा से विदेसी ही थे

उन्हें अपनी फ़ाहिशाओं समेत मियामी कूच करने दो
मैं यहीं रहूंगा ताकि अवाम के साथ मिल कर गा सकूं
इस नये इतिहास और भूगोल में ! ❑

(तर्जुमा : शाहीन)

कभी नहीं

वो जो क़ातिल है
सिर्फ़ और सिर्फ़ उसको
मैं अपने महसूसात से ख़ारिज रखता हूं

हम अपने वतन को
दुख-दर्द, ख़ून ख़राबे
और मातम की नज़्र क्यों करें ?

इन सबके ख़िलाफ़ डटी है
मेरी शाइरी
जो हर जगह मौजूद है
हवा की मानिंद ! ❑

(तर्जुमा : शाहीन)

शोले की लौ

गुइलोम अपोलिनेअर (फ्रांसीसी कवि)
1880-1918

वो जब तक जीया
उसे मोमबत्ती की रौशनी में पढ़ना बहुत अच्छा लगता था
और अक्सर
वो शोले की लौ पर अपना हाथ रख देता
ताकि वो ज़िंदा है, इसका अपने आप को यक़ीन दिलाए

जब से वो मर गया है
उसने एक जलता चराग़
हमेशा अपने क़रीब रखा है
लेकिन उसके हाथ पीठ के पीछे हैं! ❑

(तर्जुमा : शाहीन)

शे'र

चार्ल्स ब्रेश

शे'र वो सवालात हैं
जो पिस्तौल दिखा के पूछे जाते हैं
उन्हें तुम्हारी ज़िंदगी चाहिये ❑

(तर्जुमा : शाहीन)

कोरा सायोक

अर्ल बर्नी

मेरा ख़याल है
कि मैं यहीं का हो कर रह जाऊंगा

मैं टेलीग्राफ़ ऑफ़िस के एक शख़्स से
बैंक जाने का रास्ता पूछता हूं
वो दफ़्तर में ताला लगा कर मेरे साथ चल पड़ता है

इस इस्रार के साथ
कि उसे वर्ज़िश की ज़रूरत है

जब मैं अपने होटल के डेस्क पर बैठी ख़ातून से
समंदर के साहिल तक जाने वाली बस के बारे में
दरयाफ़्त करता हूं
तो वो अपनी ख़ूबसूरत बहन से
जो किसी काम के सिलसिले में वहां अपनी कार से आयी हुई है
मुझे लिफ़्ट दिलवा देती है

और मैं पहले ही सोच चुका हूं
कि उसकी बहन से क्या पूछना है..... ❑

(तर्जुमा : शाहीन)

कारी ज़र्ब

मजीद अमजद

बीस बरस से खड़े थे जो इस गाती नहर के द्वार
झूमते खेतों की सरहद पर बांके पहरेदार
घने, सुहाने, छांव छिड़कते, बोर लदे छतनार
बीस हज़ार में बिक गए सारे हरे-भरे ***अशजार*** (पेड़)

जिनकी सांस का हर झोंका था एक अजीब तिलिस्म
क़ातिल ***तैशे*** *चीर गए इन सावंतों के जिस्म* (कुदाल)

गिरी धड़ाम से घायल पेड़ों की नीली दीवार
कहते ***हैकल****, छटते पिंजर, झड़ते* ***बर्गो-बार*** (प्रासाद) (फूल-फूल)
सहमी धूप के ज़र्द कफ़न में लाशों के अंबार

आज खड़ा मैं सोच रहा हूं गाती नहर के द्वार
इस मक़्तल में सिर्फ़ इक मिरी सोच, लहकती डाल
इस पर भी अब ***कारी ज़र्ब*** *इक ए आदम की* ***आल*** *!* (सख़्त चोट) (संतान) ❑

(पाकिस्तान)

नसीर अहमद नासिर

दीवारे-कहक़हा

देखो देखो !
ऊपर से नीचे तक देखो
आगे से पीछे तक देखो
जंगल और पहाड़ से ले कर
घर के बाग़ीचे तक देखो
चिड़िया, बाज़, हुमा, क़ुक़्नुस[1]
हर पंछी की बिनाई से
हदे फ़लक की पहनाई[2] *से*
उड़ते ग़ालीचे तक देखो
शह्रों में, देहात तक देखो
दिन में देखो, रात में देखो
रस्तों के अतराफ़[3] *में देखो*
गदले में, शफ़्फ़ाफ़ में देखो
अंदर देखो, बाहर देखो
पोशीदः या ज़ाहिर देखो
दुन्या की औक़ात में देखो
अपनी-अपनी ज़ात में देखो
देखो देखो !
उस नादीद को हर सू देखो
कुछ भी नज़र न आए जब तो
इक तज्रीद[4] *को हर सू देखो*
और देखते-देखते, ख़ूब हंसो !

बर्ज़ख़ धुंधले ख़्वाबों का

इक याद क़दीमी गलियों में
इक दर्द पुराना रस्ते में
इक रंग अनोखा कलियों में
इक फूल अजब गुलदस्ते में
इक गीत बनाती पत्तों पर
इक बेल सुतूं[5] *से लिपटी है*
इक सुब्ह अज़ल[6] *से चमकी है*
इक शाम अबद[7] *तक ठहरी है*
इक चांद रुका है खिड़की पर
इक रात बहुत ही गहरी है
इक दश्त[8] *का सीना छलनी है*
इक हाथ पड़ा है ख़ंजर पर
इक ज़ख़्म लगा है मिट्टी को
इक सब्ज़ रिदा-सी[9] *बंजर पर*
इक पेड़ गुलाबी बांहों का
इक बरगद बूढ़ी सदियों का
इक बर्ज़ख़[10] *धुंधले ख़्वाबों का*
इक आलम जागती नींदों का
इक उम्र का सारा क़िस्सा है
दुख-दर्द ख़ुशी का हिस्सा है ❑

1. ख़याली परिन्दः, 2. विस्तार, 3. चहुं दिशा, 4. एकाकी, 5. खम्भे, 6. आदिकाल, 7. नित्य, 8. जंगल, 9. चादर, 10. दो विपरीत चीज़ों के लिये दरमियानी जगह

(इस्तिआरा, नई दिल्ली)

25ए, शादमान कॉलोनी, 1-जेल रोड, लाहौर

पत्ता पत्ता बूटा बूटा...

—आबिद अदीब

आबिद अदीब सिर्फ़ शाइर नहीं हैं, फ़अ्आल अदीब और एक्टीविस्ट भी हैं. बोहरा समाज में सय्यदना की ज़ियादतियों के ख़िलाफ़ चल रही तहरीक में पेश-पेश हैं. हाल ही में इनका शे'री मज्मूआ 'शुवाज़' शाए' हुआ, जो क़द्र की निगाह से देखा गया.

इक घर में लगी आग ज़रा फैल गई है
कुछ देर में बस्ती का कोई घर न बचेगा

रिश्ते की डोर कट गई छोटी-सी बात पर
ये फल मिला है अन्त में गहरे लगाव का

जब चलोगे तो कई मोड़ निकल आएंगे
यूं हर इक रास्ता हमवार नज़र आएगा

आंखों के दरपन टकराए, चकनाचूर हुए
लोग जो नज़रों में रहते थे कोसों दूर हुए

अब वह हर रोज़ नए रुख़ से मिला करता है
हम ही इक दिन उसे आईना दिखा क्यों आए

तमाम रात हवाओं का गश्त जारी था
सवेरे तक न रहा कोई हू-ब-हू बाक़ी

पहले वह रास्ते हमवार किया करता था
अब वह हर मोड़ पे दीवार खड़ी करता है

फैलाऊं किस के सामने दस्ते-सवाल मैं
मुझ को हर इक निगाह तलबगार-सी लगे

मुझी पे फेंके है पत्थर जो कोई आता है
के जैसे मैं तेरी खिड़की का कोई शीशा हूं

इस का तो ग़म नहीं के मुख़ालिफ़ सभी हुए
चुभती हुई-सी बात भी हमने कही तो है

अब रास्ता ही ढूंढ़िये अपने बचाव का
दर्या चढ़ा है, तेज़ है धारा बहाव का

इक लम्बे-चौड़े हॉल में मेज़ें उलट पड़ीं
कुर्सी ने फिर सुना दिया इकतरफ़ा फ़ैसला

मेरे अन्दर तेरी आवाज़ों की उट्ठे गूंज क्यों
मैं कोई खण्डहर नहीं, उजड़ा हुआ गुम्बद नहीं

अब तेरी बात सुने कौन यहां
तू गए वक़्त की आवाज़ हुआ

वह मेरे दोस्त जो एक एक करके दूर हुए
मैं उन को आज भी अपने क़रीब पाता हूं

❑

बोहरा वाड़ी, उदयपुर (राज.)

—हबीब राहत 'हुबाब'

जो दिन में रहते हैं वो रात में नहीं रहते
सियासी लोग कि अव्क़ात में नहीं रहते (समयों)
किसी भी हीले, हवालात में नहीं रहते
फ़क़ीर लोग ख़िताबात में नहीं रहते
कहा मज़ारे-वली ने ये ख़ाक में मिल कर
फ़रिश्ते इन दिनों गुजरात में नहीं रहते
सितम नसीब दिलों के नक़ीब हैं हम लोग (चोबदार)
किसी क़बीले, किसी ज़ात में नहीं रहते
है दम ब दम हमें तस्ख़ीरे-ज़ात का सौदा
हम और कोई ख़ुराफ़ात में नहीं रहते
जगा दो अहले-फ़िलस्तीन को कि सुनते हैं
यहूदियों के यहां रात में नहीं रहते
सलामती की दुआ कीजिये कि सुनते हैं
घरौंदे मिट्टी की बरसात में नहीं रहते
'हुबाब' शुक्र कि हम मासिवाये-रब्बे-करीम
किसी की हम्दो-मुनाजात में नहीं रहते (ईश-स्तुति-प्रार्थना)

क़रार दे के मुझे सायबान बेटे ने
संभाल रखी है घर की कमान बेटे ने
ख़ुदा का शुक्र, किसी हाल में नहीं बेची
मेरी ज़मीन, मेरे आस्मान बेटे ने
ये बात सच है कि हर दिल में घर बनाया है
उस एक इब्ने-अरब, इक पठान बेटे ने
ये फूल छोड़ के त्रिशूल क्यों उठा लाया
ये क्या किया है तेरे जा'फ़रान बेटे ने
बहुत अज़ीज़ है रिश्ता उसे भी मिट्टी से
समेट रक्खी है अपनी उड़ान बेटे ने
पड़ा है जब भी बुरा वक़्त हमने देखा है
तमाम शह्र में दी है अज़ान बेटे ने
मिला के 'हे' को मेरे 'मीम' से 'हबीब हुबाब'
बचा ली अज़्मते-हिंदोस्तान बेटे ने ☐

146, इमलीपुरा, गली नं. 1, खण्डवा

—डॉ. कैलाश गुरु 'स्वामी'

दिल से तुम्हारी याद के साये नहीं जाते
ये ऐसे नक़्श हैं जो मिटाये नहीं जाते

हर शख़्स से तो राज़े महब्बत नहीं कहते
कुछ ख़ास ज़ख़्म सबको दिखाये नहीं जाते

कुछ ग़म हैं ऐसे भी जो मताये-हयात हैं
कुछ रंज भूलकर भी भुलाये नहीं जाते

इन मोतियों को ज़ीनते मिज़गां समझ के रख
गिरने के बाद फिर ये उठाये नहीं जाते

'स्वामी' दिये उम्मीद के बुझने न दीजियो
बुझने के बा'द फिर ये जलाये नहीं जाते ❑

3, लेबर कॉलोनी, सीहोर (म. प्र.) 466001

—साहिल

ठोकरें खाके संभल जाता है
वो पूरा दौर बदल जाता है

आप सूरज का भरोसा न करें
शाम होते ही वो ढल जाता है

कोई बच्चों की तरह सपनों से
मेरा अस्तित्व बदल जाता है

काम करता है मसीहा जैसा
तीर जो पार निकल जाता है

कभी चिड़िया का टूटा पर 'साहिल'
सारा आकाश निगल जाता है ❑

द्वारा जे. एम. बक्षी एण्ड कंपनी, बंदर रोड, वेरावल-362265

—डॉ. विनय मिश्र

जो छुअन तुम हो उसी में हूँ
आजकल तो मैं नदी में हूँ

चाँद भी है चरम पर औ' मैं
आँसुओं की चाँदनी में हूँ

राम जाने, राम कब लौटें,
मैं अवध की मुर्दनी में हूँ

मौत की पहचान मुझको है,
रोती-हँसती ज़िंदगी में हूँ

क्या पता कि छूट ही जाऊँ,
मैं विवशता की घड़ी में हूँ

रेत की दीवार-सा ढह लूँ,
मैं हवा की ख़ामुशी में हूँ

○

अब तक हमारी बात का उसको मलाल है
कुछ घाव गहरे कर गया सीधा सवाल है

दर्या में मछलियों का गुज़ारा हो किस तरह,
दर्या में रात-दिन तो मछेरों का जाल है

ख़ंजर की होलियाँ हैं, कहीं हादिसों की ईद
अब लाश उठ के बोलती है क्या कमाल है

आँखों की अंजुरी में जमीं ओस की तहें,
शादाब मंज़रों का संवरना मुहाल है

कुचला गया है कौन यहाँ और कितनी बार
गिनती में एक पूरी सदी ही मिसाल है

आवाज़ दब रही है यहाँ ज़ुल्म के ख़िलाफ़
कहने को मुल्क में जुम्हूरियत बहाल है

❑

बी-161, हसन ख़ाँ मेवात नगर, अलवर (राज.) 301001

'दरअस्ल'

(गुजरात डायरी-2002)

—गोपाल सहर

गोपाल सहर की गुजरात-डायरी के ये पन्ने साल भर पहले मौसूल हुए थे. इस दरमियान इस डायरी के कई हिस्से मुख़्तलिफ़ रिसालों में शाए' हो चुके हैं: शायद डायरी 'दरअस्ल' (गुजरात-डायरी-2002) किताबी सूरत में भी शाए' हो चुकी है. दोहराव से बचने के लिये इसे फ़ौरन पेश नहीं किया गया. गुजरात-काण्ड की दूसरी बरसी पर इसे शाए' करना इसलिये ज़ुरूरी लगा कि पिछले दिनों गुजरात के विलेन को दूरदर्शन पर भूकम्प से मरने वालों के लिये घड़ियाली आंसू बहाते, जज़्बाती और गुलूगीर होते देखा गया. लेकिन गुजरात-काण्ड में मरने व बरबाद होने वालों के बारे में एक लफ़्ज़ भी उनके मुंह से न फूटा. न तो उनके और न वहां मौजूद नामनिहाद सेकूलर वज़ीरे-आज़म के. ज़ल्ज़ला तो ख़ैर आस्मानी ख़ुदा या क़ुद्रत का क़हर था. मगर गुजरात-काण्ड तो ज़मीनी ख़ुदाओं का ही किया-धरा था. समझ में नहीं आता, एक ही मुल्क के शहरियों की मौतों की ये तक़्सीम इन लोगों को 'गुड-फ़ील' किस तरह कराती है !

ख़ून, आग, धुएँ की तस्वीरें और चूड़ियाँ.....

आकाश में जगह-जगह से उठता धुआँ फैला था. पेड़ों पर बैठे-उड़ते कौओं की कांव-कांव. चारों ओर दहशत. 'जय श्रीराम' के नारे सुनाई देते. हिन्दू लोग झुण्डों में बंटकर काम कर रहे थे. हिन्दू बस्तियों में घर-घर घूमकर-मांगकर घासतेल इकट्ठा किया जा रहा था. लोगों के हाथों में गेंती-साबल, घासतेल से भरे डिब्बे थे. तलवार, धारिये हथियार तने थे आकाश में. मेरे घर के पास-पिछवाड़े में दरगाहें टूटीं, जलाई गईं. मैं छत पर से उठती लपटें-धुआँ देख रहा था. बार-बार फ़ोन की घंटी बज रही थी. मैं मित्रों की हिदायतें सुन रहा था—"बाहर मत निकलना ! कुंडवार, मीना बाज़ार में दुकानें लूटकर जला दी गईं." मैं सोचता—'यह क्या हो रहा है ?'

दुपहर तीन बजे तक सब ठीक था. कल गोध्रग स्टेशन पर साबरमती ट्रेन के एक डिब्बे को सुबह साढ़े आठ बजे के लगभग एक संप्रदाय-विशेष के लोगों ने फूंक दिया था. साठ लोग ज़िन्दा जलकर राख हो गए. सुन्दर-जवान लड़कियों को उठाकर ले गए. सामूहिक बलात्कार करके अंगों को काट-फेंक दिया गया. अख़बारों की सुर्ख़ियाँ ख़ून, आग, धुएँ की तस्वीरों से भरी थीं. मुख पृष्ठ पर बड़े-बड़े अक्षरों में छपा था—गुजरात साम्प्रदायिक-हिंसा की आग के हवाले. अहमदाबाद और दूसरे शहरों में हिंसा का दौर शुरू हो चुका था. आणंद से नरेन्द्र का फ़ोन आया था कि उसकी दुकान के बाहर रोज़ मश्क में पानी भरकर छिड़कने वाले चाचा को रेलवे स्टेशन के पास छुरा घोंपकर मार दिया गया. उस बूढ़े चाचा का क्या क़ुसूर रहा ? पर, ऐसे दंगों में सबसे पहले दिहाड़ी पर जीने वाले निर्दोष ही मारे जाते हैं.

सांझ ढलते कपड़वंज को अँधेरे की तरह दहशत ने लपेट लिया. लोगों का कहना था कि प्रशासन हमारे साथ है. सरकार ने पूरी छूट दे रखी है—साले मियांओं को लूटो-जलाओ; काटो-मारो. भारत में रहकर भारत का खोदते हैं. बहिन-बेटियों की इज़्ज़त लूटते हैं. मेरे पड़ोस में रहने वाले लड़के ने आकर बताया—"यहाँ सब ठीक था. लगता था कुछ नहीं होगा. पर, पटेलवाड़ा में डेमाई गाँव से चूड़ियाँ आई थीं. चूड़ियों के पहुँचते ही पटेलवाड़ा के सभी लड़के इकट्ठे हो गए. आस-पास के घरों से केरोसीन मांगकर कुंडवाब पर एक मुस्लिम की दुकान में आग लगा दी. कोल्ड-ड्रिंक्स की दुकान थी. फिर धीरे-धीरे लोग घरों से बाहर निकल आए और लूट-पाट, आगज़नी का दौर शुरू हो गया. आर.एस.एस., विश्व हिन्दू परिषद् एवं बजरंग दल के द्वारा 'भारत बंद' का आह्वान था. फिर वे ही चूड़ियाँ कठलाल गाँव भेज दी गईं.

देर रात को ख़बर मिली थी कठलाल और दूसरे क़स्बों-शह्रों में भी यह आग सुलग-फैल चुकी थी. कल ही राजस्थान से संतोष जीजी, छोटा भाई पूना एवं भानजा बंटी मिलने आए थे. वे भी डरे-सहमे थे. ऐसा दृश्य उन्होंने पहले कभी नहीं देखा. मैंने भी नहीं देखा. देर रात तक शह्र में कई दुकानें लूटकर जला दी गईं. ऐसा भी नहीं, सिर्फ़ मुस्लिमों की दुकानें ही लूटी-जलाई गईं. दरअस्ल हिन्दू बहुल इलाक़ों में मुस्लिमों की दुकानें लूटी-जलाई जा रही थीं और मुस्लिम बहुल इलाक़ों में हिन्दुओं की. पर, मुस्लिमों की दुकानों को चुन-चुनकर लूटा-जलाया जा रहा था. चाय, पान के लॉरी-गल्लों को भी नहीं छोड़ा ! खुली आंखों वाली अंधी पुलिस निष्क्रिय मौन थी. जनता भयाक्रान्त थी.

मदारी की डुगडुगी, जंबूरों का क़हर :

पिछले बहत्तर घंटों में पूरा गुजरात सुलग उठा. छोटे-बड़े सब शह्रों में कर्फ़्यू लगा दिया गया. सोये हुए का नाटक कर लेटी हुई सरकार ने करवट बदली. जो सोये

हुए ठण्डी-खुली आँखों से तमाशा देख रही थी. मदारी ने शाब्दिक डुगडुगी बजाकर अपने सारे जम्बूरों को पूरी छूट दे दी थी. छूट में तबाही मच चुकी थी. जम्बूरों का क़हर मुस्लिमों पर बरपा. आस-पास के गाँवों के लोगों की क़स्बाई दुकानों को लूटने में महती भूमिका रही. कपड़े-जूतों की दुकानें लूटी गईं. अनाज, किराणा, ऑयल-डिपो, खाने के तेल के डिब्बों के गोदाम लूटे गये. हाइवे पर से गुज़रती ट्रकों को लूटकर जला दिया गया. टी.वी, वी.सी.आर., रेडियो, बैट्री—क्या-क्या नहीं लूटा गया ? कपड़वंज से अट्ठारह किलोमीटर दूर हाइवे पर एक मुस्लिम व्यक्ति की बड़ी होटल 'भाग्योदय' को लूटकर जला दिया गया. गुज़रती ट्रकों में से मुस्लिम ड्राइवर, क्लीनर को उतारकर ट्रक सहित आग में फूंक दिया. आग में से बचकर निकलकर भागते को पकड़कर पुनः (बार-बार) आग में धकेला गया. आर.एस.एस., विश्व हिन्दू परिषद् ने रात को हिन्दू बहुल इलाक़ों में गुप्त सभाओं का आयोजन करना शुरू कर दिया था. पिछले तीन दिनों में गांवों से ट्रेक्टर-ट्रकों में भरकर लाए गये कार्यकर्त्ताओं को हिन्दू मुहल्लों में ठहराया गया. उनके लिए भोजन-पानी, आवास की सब व्यवस्था की गई. योजनाएँ गढ़कर क्रमबद्ध रूप से चुन-चुनकर मुस्लिम दुकानों को लूटकर जलाया गया. पर अधिकांश लोगों की रुचि लूटने में थी, लूटकर भागने में थी. ऐसे में साम्प्रदायिक-आग बचाव का अच्छा बहाना-सी लग रही थी. इस बीच धार्मिक-स्थलों के टूटने-फूंकने की बराबर सूचनाएँ मिल रही थीं. पुलिस ने कुछ कार्यकर्त्ताओं को पकड़ने का टोटका किया और छोड़ दिया.

हां ! संवेदनहीन सरकार ! दंभी सरकार !

भारत के इतिहास में शायद पहली बार ऐसा हुआ होगा कि स्वयं राजा ने अपनी प्रजा को ख़त्म करने का छद्म खेल खेला हो इस तरह.

रोटी नहीं, हथियार :

गोधरा, गुजरात और नरेन्द्र मोदी विश्व फ़लक की सुर्ख़ियों में छा गये. मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी दावा कर रहे हैं कि " 'बहत्तर घंटों में दंगे रोक दिए गये. ऐसा इतिहास में कभी नहीं हुआ." दरअस्ल बहत्तर घंटों तक दंगे होने देने, कराने की जो पूरी छूट दे रखी थी, उस पर रोक लगाने की कोशिश की गई. मोदी जी के दो रूप स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं—हाथी-दाँत की तरह.

मैं जिस मुहल्ले में रहता हूँ, यहां कल रात पीछे के रास्ते से विश्व हिन्दू परिषद् के कुछ कार्यकर्ता आये. मुहल्ले के सभी लोग—बड़े-बूढ़े, बच्चे-युवा इकट्ठे हुए. क़रीब डेढ़-दो घंटे तक मीटिंग चली. एक बड़े ख़ाली पड़े वकील के मकान में मीटिंग रखी गई. तेज़ाबी भाषण ! मेरे लिए असह्य; पर मैं ख़ामोश रहा. हर घर में 'प्रति व्यक्ति एक हथियार' बाँटने की बात तय की गई. हथियार किस तरह चलाने हैं. एसिड

से भरकर बल्ब-बोतलें कैसे तैयार करनी हैं. लोहे के सरिये पर कपड़े लपेटकर किस तरह काकड़े बनाने हैं और किस तरह डीज़ल-पेट्रोल में भिगो कर जलते हुए फेंकना है. हथियार कहाँ से आयेंगे ? कैसे आयेंगे ? यह ज़िम्मेदारी उनकी अपनी थी. देखते ही देखते पच्चीस से तीस हज़ार रुपये इकट्ठे हो गये ! यहाँ अधिकांश धनाढ्य लोग रहते हैं, पर डरपोक से लगते हैं ! कृष्णपुरा से जुड़ी कच्ची बस्ती एवं कालबेलियों के डेरों में भी इन्हीं रुपयों से ख़रीदे हुए हथियार बाँटे जायेंगे. *वे हथियार कैसे ख़रीदे ? उनके पास पेट भरने के लिए अनाज ख़रीदने तक को पैसे नहीं हैं. कैसे लोग हैं ? आदमी को पेट भरने के लिए अनाज नहीं बाँट सकते; रोटी नहीं दे सकते हैं, पर दूसरे को मारने के लिए हथियार ज़रूर बाँट सकते हैं! ये उजले वस्त्रों के लोग बड़े चालाक हैं.* उनकी अपनी 'ख़ाली पेट वालों की'रक्षा के लिए उन्हें हथियार नहीं बाँट रहे हैं, बल्कि इसलिए कि यदि उधर मुस्लिम-बस्ती के क़स्बे में से आक्रमण होता है तो बीच में पड़ने वाली कच्ची-बस्ती वाले इन्हीं हथियारों से उन्हें ख़त्म कर दें ! वैसे इन पैसे वालों को हथियार चलाना भी कहाँ आता है ?

मैंने भी पाँच सौ रुपये दिये. प्रति घर कम से कम पाँच सौ रुपये देने तय किये गये. धनी लोगों में से किसी ने पाँच हज़ार तो किसी ने दो-तीन हज़ार रुपये दिये ! जो पाँच से दस प्रतिशत ब्याज़ कमाते हैं.

ज़िन्दगी में सिद्धान्तों, आदर्शों, साहित्य की बातें करने वाले व्यक्ति की पाँच सौ रुपये देकर हथियार लेने और बँटवाने में भी सहमति थी. और कोई चारा भी नहीं था. बस्ती में मेरा जैसा दूसरा कोई नहीं था. मैं अपनी विवशता कहता भी किसे ? उदयपुर में दादा, प्रभो से फ़ोन पर बातें करके कुछ हल्कापन महसूसता. पता चला है कि फ़ोन पर बातों की टेपिंग भी हो सकती है. स्पष्ट-सच्ची बातें फ़ोन पर भी बंद हो गयीं. अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार का दम घुटकर रह गया. उन दिनों मैं बीमार था. कुछ दिनों पूर्व ही डॉक्टर को बताया था. मेरे लीवर पर सूजन है. डॉक्टर ने टेंशन-फ्री रहकर आराम करने की सलाह दी है. पर, पेट में जलन एवं दर्द कम नहीं हो रहा है. गोलियाँ खा रहा हूँ. और रात-रातभर जाग रहा हूँ. चारों ओर दहशत, सिर्फ़ दहशत बैठी है. आर.एस.एस. एवं विश्व हिन्दू परिषद् तथा सरकार ने मिलकर कोई साज़िश रची है, जिससे हिन्दू-मुस्लिम सब डरे हुए हैं ! मुस्लिमों को डर है कि हम मारे जायेंगे और हिन्दुओं को डर है कि बी.जे.पी. के अलावा हमें कोई नहीं बचा सकता है. यह देश की राजनीति नहीं है, यह वोट की राजनीति है ! हिन्दुस्तान में रहने वाले हर एक नागरिक की रक्षा का दायित्व सरकार का है. यह कैसी सरकार है जो प्रजा में 'भेद' पैदा करके आपस में लड़ाकर अपना उल्लू सिद्ध करना चाह रही है. ❑

पोस्ट बॉक्स नं. 32, कपड़वंज, (ज़िला खेड़ा) गुजरात-387620

शहीदों का लहू तक़्सीम नहीं हो सकता !

(अटलजी की तज्वीज़ पर क़ाज़ी साहिब चराग़पा क्यों ?)

—ज़ाहिदा हिना

अटल बिहारी वाजपेयी का ता'ल्लुक़ उपमहाद्वीप की उस नस्ल से है जिसने अपने बचपन में 1857 की जंगे-आज़ादी का ज़िक्र सुना, जिसके कानों में उस जंगे-आज़ादी के शहीदों और क़ैदियों के नाम गूंजे. उस नस्ल के सामने बहादुरशाह ज़फ़र, बख़्तख़ान, अवध की हज़्रत महल, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, तांतिया टोपे, राजा कुंअरसिंह, नाना फड़नवीस, अल्लामा फ़ज़्ले-हक़ ख़ैराबादी, मौलाना जा'फ़र थानेसरी, उल्माए-सादिक़पुर और इनके इलावा बंगाल से उत्तरी सरहदी इलाक़ों तक हज़ारों नाम हैं जो मज़हब, मस्लक और इलाक़े के भेदभाव के बग़ैर सामराज से लड़े. हज़ारों फांसी पर चढ़े, तोप दम हुए, काला पानी भेजे गये. जो बच रहे उन्होंने अंग्रेज़ से अपनी सियासी मतभेदों की क़ीमत ग़रीबी और मुफ़लिसी की सूरत में अदा की. वाजपेयी साहब अपनी तारीख़ से बख़ूबी आशना हैं, इसीलिये सार्क चोटी कान्फ्रेंस में तक़रीर करते हुए उन्होंने 1857 को याद किया और ये कहा कि 2007 में पाकिस्तान, हिन्दुस्तान और बंगलादेश अंग्रेज़ों से जंगे-आज़ादी का डेढ़ सौ साला जश्न मुश्तरक तौर पर मना सकते हैं. अपनी इस तक़रीर में उन्होंने कहा—"तारीख़ हमारी यादें ताज़ा कर सकती है. हमें सिखा सकती है, हमें ख़बरदार कर सकती है. हमें तारीख़ का क़ैदी नहीं होना चाहिये. हमें अब एक इज्तिमाई नुक़्त-ए-नज़र के साथ आगे की तरफ़ देखना है. कुछ बहुत पुरानी बात नहीं जब मैंने अंडमान (काला पानी) का दौरा किया. उपनिवेश-दौर में सियासी क़ैदी वहां रखे जाते थे. वहां की जेल में मुझे कुत्बों पर बहुत-से नाम अपने शहीदों के और जंगे-आज़ादी के लड़ने वालों के नज़र आए. ये नाम उन लोगों के थे जिनका ता'ल्लुक़ इस पूरे ख़ित्ते से था जो आज जनूबी एशिया कहलाता है और जो अब तीन मुल्कों में बंट चुका है. हमारे पुरखे रंग, नस्ल, मज़हब और इलाक़ाई भेद को बालाए-ताक़ रख कर एक मुश्तरका उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ 1857 में हमारी आज़ादी की पहली जंग लड़े थे. ये बात हमें याद दिलाती है कि हम में से बहुत से

एक साझा-तारीख़ रखते हैं जो हमारी हालिया तक़्सीम से पहले की है. दो बरस बा'द हम इस शानदार बग़ावत की एक सौ पचासवीं सालगिरह के साल में क़दम रखेंगे. हिंदुस्तान, पाकिस्तान और बंगला देश इस सालगिरह का साझा जश्न मना सकते हैं. एक साझे दुश्मन के ख़िलाफ़ मुश्तरक जिद्दो-जहद का जश्न....." मेरा ख़याल था कि वाजपेयी साहब की इस तज्वीज़ का अस्ल ख़ैर मक़्दम उल्माए-देवबंद के पाकिस्तानी वारिसों की तरफ़ से होगा. ये देवबंद के आलिम थे जिन्होंने काली पानी में अज़ाबनाक जलावतनी गुज़ारी थी. और आज भी अल्लामा फ़ज़्ले हक़ ख़ैराबादी समेत हमारे न जाने कितने उलमा वहां दफ़्न हैं. मुफ़्ती महमूद मर्हूम के बेटे मौलाना फ़ज़्लुर्रहमान इस बारे में ख़ामोश रहे, लेकिन जनाब क़ाज़ी हुसैन अहमद को वाजपेयी साहब की ये बात निहायत नागवार गुज़री. उन्होंने फ़र्माया कि इस तज्वीज़ का मक़्सद ये ज़ाहिर करना है कि पाकिस्तान और हिंदुस्तान एक क़ौम है और सब ने मिल कर फ़िरंगी के ख़िलाफ़ जंगे-आज़ादी लड़ी थी. उनका कहना था कि—"वाजपेयी साहब ने इस तरह एक मुग़ालता पैदा करने की कोशिश की है और मैं ये कहता हूं कि अगर जंगे-आज़ादी की तक़्रीबात मिल कर मनानी हैं, तो फिर बहादुरशाह ज़फ़र को लाना पड़ेगा, इसलिये कि पूरे बर्रे-सग़ीर की मुश्तरका अक़्दार के वारिस तो वही हो सकते हैं या उनकी नस्ल का बच जाने वाला कोई शख़्स."

क़ाज़ी साहब उमूमन मुआमलात के बारे में बहुत तेज़ी से रद्दे-अमल देते हैं. वाजपेयी साहब की इस तज्वीज़ पर भी उन्होंने अपने फ़ौरी जज़्बात का इज़्हार किया और ये भूल गये कि हम जुग़राफ़िया तक़्सीम कर सकते हैं, लेकिन तारीख़ को नहीं बांट सकते. ये हमारी मज्बूरी है कि हम इस बात को बरदाश्त करें कि 1757 में पलासी की जंग में सिराजुद्दौला पर अपनी जान निसार करने वालों में हिंदू मन्सबदारों की एक लम्बी फ़ेहरिस्त है. इस तरह ये बरदाश्त करना भी हमारी मज्बूरी है कि सिराजुद्दौला पर अंग्रेज़ इतिहासकारों ने जब ब्लेक होल का बुह्तान बांधा तो ये बंगाली हिंदू इतिहासकार थे जिन्होंने रोज़े-अव्वल से इस इल्ज़ाम का जवाब दिया और ये साबित किया कि ये एक क़ौमपरस्त हिंदुस्तानी को बदनाम करने की साज़िश के सिवा कुछ भी नहीं. तारीख़ इतनी ज़ालिम कि वो सुल्तान टीपू के हवाले से भी उसके वफ़ादार हिंदू मन्सबदारों के नाम महफ़ूज़ रखती है और इक़्बाल जंगे-आज़ादी में ग़द्दारों के नाम जब गिनवाते हैं, तो जा'फ़र अज़ बंगाल, सादिक़ अज़ दक्खन लिखते हैं. फ़िरंगी सामराज से अस्ल और इब्तिदाई लड़ाई 1757 के बंगाल से शुरू हुई थी. उस वक़्त से 1857 तक और उसके बा'द भी ये जंग साझी बुन्यादों पर लड़ी गयी. इस लड़ाई में मुसलमान, हिंदू, सिख, मराठा, पारसी और हद तो ये है कि ईसाई हो जाने वाले कई अफ़राद भी शामिल थे. ग़दर पार्टी के मेम्बरों के नाम पढ़ें तो उसमें बंगाल, बिहार, अवध, पंजाब, सिंध,, उत्तरी सरहदी इलाक़े और गोवा के रहने वालों के नाम नज़र आते हैं. उनमें कोई तमिल बोलता था, किसी की ज़बान बंगला, उर्दू, मराठी

और पंजाबी थी. कोई सय्यद और ब्राह्मण था, कोई अछूत और जुलाहा था, लेकिन आज़ादी की सरकार में पहुंच कर सब ही एक थे.

क़ाज़ी साहब का ये कहना कि इस तज्वीज़ का मक़्सद ये ज़ाहिर करना है कि पाकिस्तान और हिंदुस्तान एक क़ौम है और सब ने मिल कर फ़िरंगी से जंगे-आज़ादी लड़ी थी, एक ऐसी बात है कि जिस के बा'द हिंदुस्तान में छपने वाली किताबें तो छोड़िये, पाकिस्तान में ग़ुलाम रसूल मेहर, रईस अहमद जा'फ़री और न जाने कितने बड़े आलिम व फ़ाज़िल लोगों की किताबों को दर्या-बुर्द कर देने का जी चाहता है. हिंदुस्तान से बहुत-सी ऐसी ख़बरें आती हैं जिनमें कुछ इंतिहापसंद कभी ताजमहल को किसी हिंदू सम्राट की यादगार बताते हैं और कभी क़ुतुब मीनार पर दा'वा कर देते हैं. ऐसी ख़बरें आती हैं तो हम उन पर हंसते हैं. इसी तरह 1857 और कुछ दूसरे मुआमलात पर हमारी जानिब से ऐसे बयानात पर हिंदुस्तान में भी हम पर हंसा जायेगा. यूं भी ऐसी बात कहना सिराजुद्दौला, टीपू सुल्तान, तीतूमीर और 20 वीं सदी में दादा अशफ़ाक़ तक—सब की जिद्दो-जहद पर और तमाम शहीदों के ख़ून पर लकीर फेर देने की तरह है. वो लोग जो मुसलमान, हिंदू या सिख के भेद के बग़ैर फ़िरंगी की ग़ुलामी से नजात के लिये जान से गुज़र जाते थे जो 'मेरा रंग दे बसंती चोला' और 'देखना है ज़ोर कितना बाज़ुए-क़ातिल में है' गाते हुए फांसी पर चढ़ जाते थे, उन सब के नाम तारीख़ का हिस्सा हैं. उनके नाम खुरचे नहीं जा सकते, मिटाये नहीं जा सकते. हमारे सामने ताज़ातरीन मिसाल दक्षिण अफ़्रीक़ा की है जहां ईसाइयों, हिंदुओं, मुसलमानों और कुछ गोरे लोगों ने मिलकर जिद्दो-जहद की, आज़ादी हासिल की और आज वो उस संघर्ष को अपना साझा तारीख़ी वरसा क़रार देते हैं.

इस तक़रीर पर अपने रद्दे-अमल का इज़्हार करते हुए क़ाज़ी हुसैन अहमद से कहीं ज़ियादः साफ़ बात जमअयते-उलमाए-इस्लाम के हाफ़िज़ हुसैन अहमद ने कही है कि वाजपेयी साहब ने ख़ित्ते पर अमेरिकी दबाव के ख़िलाफ़ साझे संघर्ष के लिये एक लतीफ़ इशारा दिया है और ये कहा है कि जिस तरह हिंदुओं और मुसलमानों ने फ़िरंगी के ख़िलाफ़ जंग लड़ी थी, उसी तरह हम भी अमेरिका की बालादस्ती के ख़िलाफ़ मिल कर जंग करें.

हमें अपने लोगों को यक़ीनन ये बताना चाहिये कि शुद्धि और संगठन की तहरीकें किन इंतिहापसंदों ने चलायी थीं, लेकिन हमें सेक्युलर, खुले ज़ेह्नों और आज़ादी के मतवालों को मज़हब, मुल्क, ज़बान और इलाक़े की बुन्यादों पर तक़्सीम करके नहीं देखना चाहिये. ये वो लोग हैं जिन्होंने 19 वीं सदी में अपनी जानें न दी होतीं, तो आज मुहतरम क़ाज़ी हुसैन अहमद और उनके साथियों को पाकिस्तान की पार्लियामेंट की रुक्नीयत का ए'ज़ाज़ भी हासिल न होता. ❑

(नई दुन्या, नई दिल्ली-16/22 जनवरी 04)

जरनैली तसव्वुरात

—नज़ीर नाजी

साबिक़ चीफ़ ऑफ़ आर्मी स्टाफ़ जनरल मिर्ज़ा असलम बेग के ए'ज़ाज़ में एक इफ़्तार पार्टी का आयोजन हुआ. याद रहे, वो एक सियासी जमाअत अवामी क़ियादत पार्टी के सरबराह हैं. इसी पार्टी के दो ओहदेदारों: सय्यद मुहम्मद मेहदी और अज़ीज़ अहमद आवान ने इस दा'वत का बंदोबस्त किया था. जनरल असलम बेग का एक मज़्मून उसी रोज़ अख़बारात में शाए' हुआ, जिसे मैं सुब्ह पढ़ चुका था. दोबारा वही मज़्मून जनरल साहिब की ज़बान से सुनने की सआदत हासिल हुई. जब आम लोग इस्लामी दुन्या की बात करते हैं तो मैं उसे एक आदत या रवाज समझ कर नज़रअंदाज़ कर देता हूं, मगर जब पाकिस्तानी फ़ौज का साबिक़ सरबराह इस तरह की बात करता है तो ता'ज्जुब होता है. मुझे अभी तक ये बात समझ नहीं आयी कि 'इस्लामी दुन्या' किस चिड़िया का नाम है ?

तुर्कों और अरबों के दरमियान कशीदगी ही नहीं, बाक़ाइदा लड़ाई है. जब सारी अरब दुन्या इस्राइल के ख़िलाफ़ जंग कर रही थी, उस वक़्त तुर्की ने न सिर्फ़ उसे तस्लीम कर रखा था, बल्कि वो उसका मददगार भी था. ईरानियों और अरबों के दरमियान तारीख़ी संघर्ष है जो हर दौर में मौजूद रहा. इराक़ और ईरान की जंग में जितने मुसलमान मारे गये, उतने मुसलमान किसी ग़ैर मुस्लिम ताक़त ने नहीं मारे होंगे. अफ़्ग़ानिस्तान में सोवियत फ़ौज़ों की वापसी के बा'द जो क़त्लो-ग़ारतगिरी और तबाही बरपा हुई, उसमें कोई ग़ैर मुस्लिम शामिल नहीं था. सब मुसलमान थे और सब एक दूसरे को मार रहे थे. जब तालिबान आये, तो उनकी जंग नोर्थ गुटों से चली. ये भी मुसलमान थे और एक दूसरे को मार रहे थे. महातीर मुहम्मद साहिब इक़्तिदार से रुख़सत होते हुए इस्लामी दुन्या के लीडर बनने निकल पड़े. हद ये है कि बतौर वज़ीरे-आ'ज़म जिस इस्लामी कान्फ्रेंस के वो मेज़बान थे, उसमें इराक़ पर अमेरिकी ज़ोर-ज़बरदस्ती के मज़्म्मत में एक रस्मी क़रारदाद भी पेश न कर सके और कान्फ्रेंस के दूसरे मेम्बरान में से भी किसी को हौसला न हुआ कि इराक़ पर अमेरिकी हिंसा का विरोध कर सकें. लीबिया अरब लीग छोड़ कर अफ़्रीक़ी तन्ज़ीम की तरफ़ जा चुका है. चेचन्या में रूस मुसलमानों को कुचल रहा है, मगर उसके सद्र पुतिन इस्लामी कान्फ्रेंस में बिराजमान पाये गये. ईरान और पाकिस्तान हमसाये भी हैं और इस्लामी बरादरी के मेंबर भी. ईरानी हुकूमत इस्लामी होने की दा'वेदार है जब कि पाकिस्तान भी एक

इस्लामी जुम्हूरीया है, लेकिन ईरान के आर्थिक व सैनिक रिश्ते भारत के साथ ज़ियादः गहरे हैं. खाड़ी की इस्लामी रियासतों के ज़ियादः रिश्ते भारत के साथ हैं. इंडोनेशिया की पॉलिसियां अपने क़ौमी हितों के तहत बनती हैं. बंगलादेश के फ़ैसले अपनी ज़ुरूरतों के मुताबिक़ होते हैं. बाक़ी इस्लामी दुन्या के मुक़ाबले में अरब ख़ुद को बरतर और मुम्ताज़ समझते हैं और फिर अरब आपस में भी एक दूसरे के साथ मिल कर नहीं चलते. सीरिया के हित अलग हैं और जोर्डन के अलग. खाड़ी मुल्कों के अरब एक तरह सोचते हैं और अफ़्रीक़ी अरब दूसरी तरह. इस के बावजूद अगर किसी को इस्लामी दुन्या और इस्लामी ताक़त के नाम की कोई चीज़ दिखाई देती है और वो भी पाकिस्तानी फ़ौज के सरबराह को, तो इस पर ता'ज्जुब के साथ-साथ दुख भी होता है, क्योंकि पाकिस्तान की फ़ौज महज़ एक जंगी मशीनरी नहीं, सियासी ताक़त भी है जो मुल्क पर हुकूमत करती है, उसकी पॉलिसियां बनाती है और मुल्क की तक़्दीर के फ़ैसले करती है. अगर फ़ैसले करने वाली ताक़त ज़मीनी सचाइयों से इतनी बेख़बर है तो फिर सोचना पड़ेगा कि हमारे मुल्क का मुस्तक़बिल क्या होगा ?

मिर्ज़ा असलम बेग ने अपनी गुफ़्तगू में उन मुजाहिदों की भरपूर ता'रीफ़ की जो अपने घर बार छोड़कर अल्लाह की राह में जिहाद करने निकले हैं. उन्होंने फ़र्माया कि, 'यही लोग इस्लामी दुन्या को आज़ाद कराएंगे, यही लोग सामराज को शिकस्त देंगे और यही लोग एक नई दुन्या की बुन्याद रखेंगे.'' उन्होंने इस पर भी तन्क़ीद की कि ओसामा बिन लादेन और उनके साथी जिस मुल्क के शह्री थे, उसने उन्हें अपनी शह्रीयत से महरूम कर दिया, लेकिन जब मैंने उनसे दरयाफ़्त किया कि इस्लामी दुन्या के ये 'हीरो' जो दरहक़ीक़त अलक़ाइदा के सदस्य हैं, उनके साथ जो सुलूक मौजूदा फ़ौजी हुकूमत कर रही है, जनरल बेग उसके बारे में क्या ख़याल रखते हैं ? तो उन्होंने जवाब देने से गुरेज़ किया. एक और सवाल ये हुआ कि सऊदी अरब और तुर्की में जो कुछ हो रहा है, क्या उसे भी 'जिहाद' तसव्वुर किया जाए ? तो जनरल साहिब ने फ़ौरन उसे दहशतगर्दी क़रार दे दिया जब कि वो अपनी इब्तिदाई तक़रीर में उन लोगों की ता'रीफ़ करते रहे.

जनरल साहिब ने उस इस्लामी दुन्या की फ़त्हयाबी और कामयाबी की ख़ुशख़बरी भी सुनाई जिसके वुजूद की उनके पास कोई दलील नहीं थी. उन्होंने फ़र्माया कि ''इस्लामी दुन्या की डोर अल्लाह के हाथ में है.'' मगर ये नहीं बताया कि बाक़ी दुन्या की डोर किस के हाथ में है ? क्या वो दुन्या अल्लाह के कण्ट्रोल से बाहर है ? और जनरल बेग के इस जुम्ले से तो हाज़िरीन बहुत ही लुत्फ़ अंदोज़ हुए कि, ''जिस तरह हम 'आज़ाद' हैं उसी तरह एक दिन अफ़्ग़ानिस्तान और इराक़ भी आज़ाद होंगे.''

''गोया कभी आज़ाद नहीं होंगे !'' साथ बैठे एक शख़्स ने मेरे कान में कहा. ❑

डोंगा बोंगा का कोचवान अल्ताफ़

जावेद चौधरी

ये एक मा'मूली वारदात थी. डाकुओं ने कोचवान अल्ताफ़ को रोका, अल्ताफ़ ने विरोध किया. डाकुओं ने उसे गोली मार दी. अल्ताफ़ शदीद ज़ख़्मी हो गया. लोग उसे रूरल हेल्थ सेंटर ले गये. डॉक्टर ने मरीज़ पर तवज्जोह न दी. लोग थाने गये, पुलिस ने वारदात को तवज्जोह के लाइक़ न समझा. कोचवान अल्ताफ़ दूसरे रोज़ दम तोड़ गया. अल्ताफ़ के रिश्तेदारों ने ज्यों ही बैन शुरू किया, लोग अस्पताल के गिर्द जमा होने लगे. आधे घंटे में पूरा शह्र अस्पताल के बाहर था. लोगों ने मुज़ाहरा शुरू किया, ना'रेबाज़ी हुई, पथराव हुआ, डॉक्टर ने लोगों को रोकने की कोशिश की. लोग और ज़ियादः बिगड़ गये. डॉक्टर वहां से भागा, लोगों ने डॉक्टर की गाड़ी और एक मोटर साइकिल को आग लगा दी. अस्पताल के शीशे तोड़ दिये. पुलिस ने रोकने की कोशिश की. हुजूम पुलिस पर पिल पड़ा. थानेदार भी भाग खड़ा हुआ, थानेदार और डॉक्टर दोनों ऑपरेशन थियेटर में पनाह लेने पर मज्बूर हुए. हुजूम ने थियेटर का घेराव कर लिया. पुलिस ने एसएचओ को बचाने के लिये हुजूम पर गोली चला दी जिसके नतीजे में तीन लोग मारे गये और 10 ज़ख़्मी हो गये. फ़ायरिंग की ख़बर लम्हों में पूरे इलाक़े में फैल गयी. आसपास के देहात से लोग निकले और शह्र में जमा हो गये. देखते ही देखते वहाँ हज़ारों लोग इकट्ठे हो गये. उन लोगों ने थाने का घेराव कर लिया. अहलकारों ने गेट को ताला लगाया और क़िलाबंद होकर बैठ गये. हुजूम ने, थाने पर हमला कर दिया, इमारत को आग लगा दी, वायरलैस सिस्टम तोड़ दिया, रिकॉर्ड जला दिया और सारा फ़र्नीचर तोड़ दिया. पुलिस अहलकार जान बचा कर भाग गये. इस दौरान बहावलनगर से फ़ायर ब्रिगेड आ पहुंची. हुजूम ने उसे भी आग लगी दी. इस कार्रवाई से निबटने के बाद हुजूम ने लाशें उठायीं, सड़क पर रखीं और ट्रैफ़िक बंद करा दी. पूरे शह्र में हड़ताल हो गयी. प्रदर्शन करने वालों ने जगह-जगह नाके लगा कर शह्र का इंतिज़ाम अपने हाथों में ले लिया. शाम तक ख़ौफ़ का ये आलम था. बहावलनगर के ज़िला मजिस्ट्रेट अक्बर प्रभावित इलाक़े के दौरे के लिये निकले. शह्र के नज़दीक पहुंचे तो उन्हें ख़याल आया, उनकी गाड़ी पर हरी लाइट लगी है. हुजूम ये लाइट देख कर कहीं उन पर हमला न कर दे, लिहाज़ा वो रास्ते ही से वापस चले गये. शह्र के हालात सुधारने के लिये रेंजर्स बुलाये गये और बा'द में उन्हें वापस भेज दिया गया.

ये डोंगा बोंगा की सूरतेहाल है. बहावलनगर की एक निहायत ही छोटी सब तहसील जिसकी आबादी चंद हज़ार से ज़ियादः नहीं होगी, लेकिन इस छोटे से क़स्बे

की मा'मूली वारदात और इंतिज़ामिया की आम-सी ग़फ़लत पर आबादी से कई गुना लोग वहां जमा हो गये और सारा सरकारी इंतिज़ाम तलपट हो गया. ये एक मा'मूली वाक़िआ है,. लेकिन ये वाक़िआ साबित करता है कि हमारे समाज में अंदर ही अंदर कुछ पक रहा है. लोगों के मिज़ाज में गर्मी आ चुकी है. इस समाज, सरकारी निज़ाम और ज़ुल्म व ज़ियादती पर आधारित इस सिस्टम से लोग तंग आ चुके हैं. मुझे कल शाम पंजाब हुकूमत के एक आ'ला अफ़सर ने बताया कि हम लोग इस बात पर हैरान हैं, डोंगा बोंगा जैसे इलाक़े में इतने लोग कैसे जमा हो गये? लोगों को ये हैरत फ्रांस के इंक़िलाब के दौरान भी हुई थी. उक़्त फ्रांस के अवाम लुईस सोलहवें के ख़िलाफ़ सड़कों पर निकले और चंद ही लम्हों में लुई के महल तक जा पहुंचे थे. मैंने फ्रांस के ये महल देखे हैं. ये महल पेरिस से बीस बाइस मील दूर हैं. उस ज़माने में यक़ीनन रास्ते में रूकावटें भी होती होंगी. वहां लुई के महल के सामने खड़े होकर मैंने सोचा, ''लोग ये तमाम रूकावटें पार करके यहां कैसे पहुंचे थे और वो भी चंद घंटों में?'' ख़याल आया, जब इंसान के अंदर आग लगी हो, तो वो रूकावटों की परवा करता है और न ही फ़ासिलों की. आप ईरान-इंक़िलाब भी देखिये. शाह की आंख खुली तो लाखों, करोड़ों लोग बर्फ़बारी में सड़कों पर खड़े थे. शाह की ख़ुफ़िया एजेंसियां नाकाम हो गयीं. पुलिस ने जवाब दे दिया और आख़िर में फ़ौज भी बेबस हो गयी और यूं एक झटके में शाह के सारे इंतिज़ामात ज़मीनबोस हो गये. सैलाब और अवाम दोनों ऐसे रेले होते हैं जिनके सामने तमाम इंतिज़ामात बेबस और लाचार हो जाते हैं.

लोग निज़ाम से किस क़दर तंग हैं, आप उसका अंदाज़ा कांस्टेबल नज़ीर के वाक़िए से भी लगा सकते हैं. नज़ीर ने मेजर जनरल की गाड़ी के शीशों से सियाह काग़ज़ उतारने की कोशिश की. इस दुस्साहस पर उस पर अनुशासन का क़हर टूटा. ये वाक़िआ अख़बार तक पहुंचा तो कांस्टबेल नज़ीर पूरे मुल्क में हीरो बन गया. पाकिस्तान के तमाम कॉलमनवीसों ने इस पर कॉलम लिखे. तमाम बड़े अख़बारों में इस पर इदारिये शाए' हुए. बीबीसी और वॉयस-ऑफ़-अमेरिका ने कांस्टेबल नज़ीर पर तब्सिरे किये. ये सब क्या है? ये साबित करता है कि जिस दिन लीडरशिप को तरसते अवाम को कोई लीडर मिल गया, चाहे वो शख़्स कांस्टेबल नज़ीर जैसा अढ़ाई हज़ार रुपये का कोई मुलाज़िम हो या फिर किसी कोचवान अल्ताफ़ की लाश, सारा निज़ाम उसी दिन रुख़सत हो जायेगा. सारे इंतिज़ामात धरे रह जाएंगे और फिर इतिहासकार हैरत से एक दूसरे से पूछेंगे, ये लोग इतनी जल्दी सत्ता के महल तक कैसे पहुंच गए? इसका जवाब उन्हें अल्ताफ़ कोचवान देगा. वो उन्हें बताएगा, ''जिस के अंदर आग धधक रही हो और जिसके तलुए अंगारों से बने हों, उसके सामने हर रुकावट हैच और हर फ़ासिला मा'मूली होता है.'' ❑

(नई दुन्या, नई दिल्ली)

ग़रीबी व बेकसी यहां भी/वहां भी

सलीम यज़दानी

मैंने नज़र उठा कर देखा, रेत के बगोलों से परे धूल से अंटी हुई औरतों की एक क़तार झुलसा देने वाली धूप और तपती हुई ज़मीन पर चलती हुई आगे बढ़ रही थी. उनके सरों पर मिट्टी के घड़े और हाथों में पानी से भरे ज़ंगआलूद कनस्तर थे. उनमें दो या तीन ऐसी भी औरतें थी जो तख़्लीक़ के तक़ाज़ों को पूरा कर रही थीं. मैंने जीप के ड्राइवर से पूछा कि ये कौन हैं और कहां से आ रही हैं? उसने कहा, ये यहां से सात-आठ मील दूर एक तालाब है, वहां से पानी लेकर आ रही हैं. मैंने कहा, इतनी दूर से? उसने सर हिलाया. मेरी आंखों में आंसू तैरने लगे. ड्राइवर ने कहा, यहां ऐसा ही होता है. सदियों से ये अमल जारी है. इनकी नानियां और दादियां भी यही करती थीं. इनकी बच्चियां भी यही करेंगी. दुख से मेरा दिल भर गया. मैंने सोचा कि शायद इस्लाम यहां अभी तक नहीं पहुंचा या शायद उसकी रूह सऊदी अरब में ही रह गयी. वो कौन-सा इस्लाम था जिसके लिये पश्चिम के दानिशवर कहते हैं कि इस्लाम के ज़ुहूर ने इंसानी तारीख़ के धारे को तब्दील कर दिया. वो किरिश्मा यहां क्यों नहीं होता? मैं सोचता हूं कि वो मो'जिज़ा (चमत्कार) यहां कब रूनुमा होगा कि जिसने बिलाल को जो गुलाम थे, आक़ा बना दिया. वो वक़्त कब आयेगा जब हाकिमे-वक़्त रात की तारीकी में अपनी पीठ पर खाने का सामान लादे किसी ग़रीब औरत के यहां पहुंचा रहा होगा. किसी ग़रीब व मज्बूर औरत के घर मे दूध दूहने जा रहा होगा. इस्लाम वही है, लेकिन उस पर अमल करने वाले नहीं हैं. न हाकिम वैसे हैं न अवाम वैसे हैं कि खड़े होकर पूछ सकें कि तुमने ये संगे-मरमर के महल कैसे बनाये हैं! तुम्हारे पास ये दौलत कहां से आती है? पाकिस्तान में ग़रीबी बढ़ रही है. पचास फ़ीसद से ज़ियादः लोग ग़रीबी की इंतिहाई निचली सत्ह पर ज़िंदगी गुज़ार रहे हैं. सिर्फ़ कराची में लाखों ऐसे लोग हैं जो ग़रीबी रेखा से नीचे ज़िंदगी गुज़ार रहे हैं. ये इन्किशाफ़ (रहस्योद्घाटन) सिटी नाज़िम जनाब नै'मतुल्लाहख़ान ने एक इफ़्तार पार्टी में किया है. ग़रीबी व बेकसी का ये मन्ज़र आपको बलोचिस्तान के बियाबानों, सिंध के रेगिस्तानों और गोठों में, पंजाब के मैदानों में, सरहद की चट्टानी वादियों में, हर जगह नज़र आयेगा. पाकिस्तान को वुजूद में आये सतावन साल होने को आये, मगर अवाम की हालत नहीं बदली.

जब जनरल परवेज़ मुशर्रफ़ आये थे, तो उन्होंने बड़े दा'वे किये थे. मगर तीन साल के बाद ये आंकड़े सामने आये हैं कि ग़रीबी घटने के बजाय बढ़ गयी है. ता'लीम महंगी और नायाब होती जा रही है. सत्तर फ़ीसद अवाम साफ़ पीने के पानी

से महरूम हैं. अवाम की बड़ी अक्सरीयत को जो ग़रीब है, दवाएं मुहैया नहीं हैं. इलेक्शन हुए. असेम्बलियां वुजूद में आयीं, लेकिन उनकी कारगुज़ारी मायूसकुन है. मुआमलात वहीं के वहीं हैं, जहां शुरू में थे. हुकूमत ने सबसे बड़ा काम ये किया है कि असेम्बली के मेम्बरों की तनख़्वाहें बढ़ा दी हैं. अपोज़िशन को हुकूमत के हर क़दम पर इख़्तिलाफ़ है, लेकिन इस मेह्रबानी पर सब ख़ुश हैं, नाज़ां है. अगर दो एक नहीं चाहते कि असेम्बली के मेम्बरों की तनख़्वाहें बढ़ें, तो उनकी कौन सुनता है! अख़बारात में जो तफ्सील शाए' हुई है, उसके मुताबिक़ मेम्बराने-असेम्बली की तनख़्वाहें सौ फ़ीसद बढ़ा दी गयी हैं. या'नी 17500 रुपये से बढ़ा कर 38000 रुपये कर दी गयी है. इस इज़ाफ़े से ख़ज़ाने पर हर महीने 190.61 मिलियन रुपये का बोझ पड़ेगा. सफ़री एलाउंस 50 हज़ार से बढ़ा कर एक लाख कर दिया गया है. नक़्द सफ़री एलाउंस की सूरत में 35 हज़ार से बढ़ा कर एक लाख कर दिया गया है. नक़्द सफ़री एलाउंस की सूरत में 35 हज़ार से बढ़ा कर साठ हज़ार कर दिया गया है." ❑

(नई दुन्या, नई दिल्ली)

शफ़क़ की वरासत

—मर्ग़ूबअली

'वरासत' शफ़क़ की तरफ़ से उर्दू अदब को नवीं किताब है. इससे पहले शफ़क़ तीन अफ़्सानवी मज्मूए 'सिमटी हुई ज़मीन', 'सग गुज़ीद:' और 'शनाख़्त', एक तहक़ीक़ी मक़ाला ''उर्दू दास्तानों में विलेन का तसव्वुर'' और तीन नॉवेल 'कांच का बाज़ीगर', 'बादल' और 'काबूस' दे चुके हैं.

कोई भी लिखने वाला अगर इतने अर्से से मैदान पर जमा हो कि 8 उम्दा, मो'तबर और क़ाबिले-ज़िक्र किताबें दे चुका हो, तब उसकी ताज़ा किताब इस बात का तकाज़ा (कि उसे सहज, सहज पढ़ा जाए और उसमें से वो कुछ भी जान लेने की कोशिश की जाए जो अफ़्सानानिगार ने लफ़्ज़ों के दबीज़ पर्दों के पीछे छिपा रखा है) कर ले कि इसमें शाए' शुदा तहरीरों पर तब्सिरा करने से पहले उन्हें एक बार और पढ़ लिया जाये, तो कुछ बुरा नहीं लगता. शफ़क़ के नॉवेल ''बादल'' पर मैंने तब्सिरा नॉवेल ख़त्म होते ही लिखना शुरू कर दिया था या'नी बरजस्ता या बेसाख़्ता, मगर उनके ये अफ़्साने धीमी आंच पर रखी हांडी की तरह तवज्जोहतलब हैं. ये अफ़्साने ऐसे दौर में सामने आये हैं, जब चहार तरफ़ हंगामों का ग़लबा (जोर) है. यकसूई और सुकून की चंद सांसें हासिल करना दुश्वारतर होता जा रहा है, मगर उनकी आहिस्तारवी, उनका बेदाग़ अंदाज़े-तख़ातुब (सम्बोधन) और तहरीर की पुख़्तगी हमें एक ऐसे 'फूलों वाला मकान' में ले जाती हैं जहां एक ख़ौफ़ है मगर रात सरशारी (परिपूर्ण, मस्ती) से भरी है और उसके बा'द एक बेख़ौफ़ और लज़्ज़तआमेज़ नींद, यही कुछ पल ऐसे हैं जिनको गुज़ार कर सुब्ह के माथे पर फिर नये ज़ख़्मों का नविश्ता पढ़ा जा सकता है. शफ़क़ जो हर तरह की कहानी लिखने पर क़ादिर हैं जैसे, 'वरासत' और 'दूसरा कफ़न' उस जगह से शुरू होते हैं, जहां लिखने वाला थक कर क़लम रखने की सोचता है. 'चमड़े भर ज़मीन' दास्तानवी अंदाज़ और उसी तरह की ज़बान में लिखा 1800 से 2003 तक का इहाता (क्षेत्रबद्ध) किया हुआ दुख से भरा ऐसा तन्ज़ है

जिसको पढ़ कर पढ़ने वाला बहुत देर तक तिलमिलाता रहे. 'शह्रे-सितम' और 'नीला ख़ौफ़' उस क़ौम के दुखों की अक्कासी करते हैं जिसका बहुत पुराना नाम मुसलमान है. 'दहशतगर्द' ऐसी धुन पर तर्तीब दिया हुआ नोहा है जिसको 'नीला ख़ौफ़' ने बहुत धीमी और दिल को चीर देने वाली आवाज़ में गाया है. ख़ुदानख़ास्ता, 'दीवारे-गिर्या', 'क़तर-ए-दर्या', 'आख़िरी पड़ाव', 'काली ज़मीन' और 'रक़्से-शरर' दूसरे अफ़्साने हैं.

शफ़क़ का 'बादल' कैसे-कैसे 'काबूस' (प्रेत-जकड़न की अनुभूति) तोड़ता है, ये देखना हैरतअफ़्ज़ा मसर्रत से कभी भी उस शख़्स के लिये ख़ाली न होगा जो उनकी इस नई किताब से रूबरू होगा. ज़माने के दुखों से भरे ये अफ़्साने हमारे अहद के माथे पर लगे उन तमाम ज़ख़्मों की निशानदेही करते हैं जिन से आज हम लोग दो-चार हैं. जो कैफ़ीयत सर्दी की रात में किसी ख़ाली ज़मीन पर गिरती हुई चांदनी को देखने से पैदा होती है, उनके अफ़्साने कुछ इसी क़िस्म की कैफ़ीयत से भरे हुए हैं. उनका लफ़्ज़ों का इंतिख़ाब ग़ैर शुऊरी है या शुऊरी, मगर उनका ज़ेह्न हर उस लफ़्ज़ को काग़ज़ पर मुंतक़िल करता चला जाता है, जो अफ़्साने की गहराई, गीराई (पकड़) और दिलचस्पी को बरक़रार रखते हुए पढ़ने वाले ज़ेह्न को अपनी गिरिफ़्त में ले ले और यही शफ़क़ की नस्र का कमाल और उनके अफ़्सानों के मौज़ूआत चुनने का हुनर भी है. ❑

वरासत/शफ़क़/कबीरगंज, सासाराम-821115 (बिहार)/तन्ज़ीमकार: एजूकेशन पब्लिशिंग हाउस, 3108, वकील स्ट्रीट, लाल कुंआ, देहली-6/2003/150.00

गुजरात के अलमीये पर : दीवारे-शब

बड़े हादिसे अपने पीछे हमेशा बहुत-सा गर्दो-गुबार छोड़ जाते हैं. कभी मिट्टी में मिलकर मिट्टी बन जाती है, कभी फिर मिट्टी के दामन से जुदा हो के, मौजूदा और आने वालों के ज़ेह्न पर छा जाती है.

गुजरात-सानिहा भी एक ऐसा ही बड़ा हादिसा था, जिससे मज़्लूमीयत, बर्बरीयत और ग़ैर इंसाफ़ी की इतनी गर्द उड़ी कि पूरी दुन्या में इंसानियत की आंख से आंसू निकल पड़े. आंसू कभी दहशतगर्दी का नाम बनते हैं, कभी मज़्लूमीयत की चादर पर ऐसा बदनुमा दाग़ कि सौ हीले-बहाने का पानी भी न धो सके और कभी ऐसे लफ़्ज़ों का मज्मूआ कि पढ़ते जाइये और ख़ुद से सवाल करते जाइये-ये सब क्यों हुआ? ये सब कैसे हुआ? ये क्या आयंदा न होगा? इन सारे सवालों से भरी नज़्मों के मज्मूए का नाम है: 'दीवारे-शब', जिसे जाबिर हुसैन ने तर्तीब दिया है.

जाबिर हुसैन अपने मुख़्तसर दीबाचे में लिखते हैं :

लेकिन ख़यालात से हमारी दूरी जितनी भी हो, क्या ये सहीह् नहीं कि ख़यालात ही बुह्रान की हर घड़ी में अपनी जुर्अतमंदी के सबब हमारा बचाव करते हैं. हमें नज़रअंदाज़ किये जाने, हमारी तज़्लील के बावजूद ख़यालात ही आख़िरकार हर लड़ाई में हमारे लिये हिफ़ाज़ती ख़ौल का काम करते हैं और हम अपने दुश्मनों से दो, दो हाथ करके महफ़ूज़ अपनी दुन्या में लौट आते हैं. इसलिये सवालों की आग को ज़िंदा रखना और उस आग में ख़यालात के तईं अपनी वफ़ादारी का लहू डालते रहना निहायत ज़ुरूरी है.

इस लहू डालने के अमल में जाबिर हुसैन के साथ मुशर्रफ आलम ज़ौक़ी, नो'मान शौक़, शहन्शाह आलम, फ़ज़्ल इमाम मलिक, अनवर ईरज और आसिफ़ सलीम भी शिराकतदार हैं. हंगामी मौज़ूआत पर बहुत सोच-समझ कर किसी तह्रीर को क़लमबंद करना काफ़ी वक़्त मांगता है, लेकिन ये नज़्में बहुत थोड़े वक़्त में बहुत अच्छी बन सकीं, तो इसकी एक वज्ह ये है कि इस सानिहा ने सभी के अंदर दुख का एक गुबार भर दिया था, जब तक ये गुबार लफ़्ज़ों के ज़रीए तहलील न होता, तब तक लिखने वाले दर्दे-ज़ेह (प्रसव-पीड़ा) में मुब्तला रहते.

इस मज्मूअ-ए-नज़्म में कुछ नज़्में इकहरे लबो-लहजे की हैं, तो कुछ बेहद अलामती (प्रतीकात्मक), लेकिन एक बात, जो इन सारी नज़्मों में मुश्तरक (साम्य) है, वो इनका वो कर्ब (पीड़ा) है जिससे हर लिखने वाला एक दुखभरा मन्ज़र बनाने में कामयाब हुआ है. नज़्मों के चंद टुकड़े देखिये :

गुज़िश्ता साल
मिरी रहगुज़र सूनी थी
मिरे रफ़ीक़
मिरी सुह्बतों से ख़ाइफ़ थे (भयभीत)
मैं अपनी
बे वतनी का शिकार ठहरा था

(जाबिर हुसैन)

मत पूछिये कि
एक सुब्ह
एक आख़िरी सुब्ह
आंख खुलते ही
कैसे देखते होंगे वो
अपने घर को

बाई, बाई, टाटा या अलविदा कहते होंगे
अपने घर वालों/भाई बहनों
मां
या बूढ़े बाप को
कैसे निकालते होंगे घर की चौखट से
अपने क़दम
आख़िरी बार
मर जाने के लिये

(मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी)

बापू की तस्वीर के नीचे
देख रहे हैं बच्चे
डब्लू. डब्लू. एफ़.
एक पाठशाला में
ताउम्र बनवास काटने
आ गयी है अहिंसा

(नो'मान शौक़)

दोशीज़गी ही तो छिनी है लड़कियों से
हिरन से कस्तूरी तो नहीं
गर्म ख़ून ही तो बहा है नालियों में
गंगा, जमना का पानी तो आलूदः नहीं हुआ
नस्लकुशी ही तो हुई है
गौकुशी तो नहीं

(नो'मान शौक़)

लालटेन, बल्ब, ट्यूब लाइट
मेरा हारमोनियम, मेरा सुर
सब कुछ तो तोड़ा तुमने
सप्त ऋषियों की पीठ पर चढ़ कर

(शहन्शाह आलम)

पूरे शहर में पसरा है सन्नाटा
बंद हैं घरों के दरवाज़े और खिड़कियां
कहीं से कोई आवाज़ नहीं आती
कोई आहट सुनाई नहीं देती
आवारा कुत्ते भी सड़कों पर

दिखाई नहीं पड़ते
पुलिस बैरकों में बंद है
शहर में कार-सेवकों का राज है

(फ़ज़्ल इमाम मलिक)

तुम्हारी
रथ-यात्रा के ठीक पीछे, पीछे
हिंदुस्तान भी
विनाश-यात्रा पे
निकल पड़ा है
तुम्हारी यात्रा तो ख़त्म हुई
और तुम अपने घर लौट आए
लेकिन इसकी यात्रा
कब ख़त्म होगी?
और वो कब
अपने घर लौटेगा....?

(अनवर ईरज)

फिर कोई रेल का ठहराव
गोधरा न हो
बीत गए हैं दिन
बदल गए हैं रुख़ हवा के
ठहराव वही है
रुकती हैं अब भी वहां रेलें
बेचने वाले अब भी वहां चीज़ें
बेचा करते हैं

(आसिफ़ सलीम)

ये नज़्में अपनी तख़्लीक़ी हुनर में हर सतर, हर लफ़्ज़ एक आईनःख़ानः है, जिसमें हम और हमारे बा'द आने वाले भी वो तमाम करीहः मन्ज़र (अप्रिय-दृश्य) देख सकेंगे, जिनको देखने वाली आंखें हमेशा के लिये मा'दूम (नष्ट) हो गयीं और तूफ़ान के बा'द का इर्तिआश (कम्पन) लहरों पर छोड़ गयीं. ❑

दीवारे-शब/तर्तीबः जाबिर हुसैन/उर्दू मर्कज़ अज़ीमाबाद/
247-एमआइजी, लोहिया नगर, पटना/2003/150.00

49, धर्मदास, नजीबाबाद (उ.प्र.)

कुशल चित्रकार के स्ट्रोक्स

हेतु भारद्वाज

कहानीकार आबिद सुरती ऐसे रचनाकार हैं जो क़लम और ब्रश दोनों के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं और उनका कहने का अंदाज़ अपना ही है. कुछ रचनाकार ऐसे होते हैं जो अपने अंदाज़े-बयां के कारण ही अपनी विशिष्ट पहचान बनाते हैं. दरअसल जो कुछ हम पढ़ते हैं, वह सब कुछ तो हम ज़िन्दगी में देखते-भोगते रहते हैं, पर रचनाकार के कहने का ढंग ही उन सारी चीज़ों की दुबारा रचना करता है और वे चीज़ें हम जैसे नये सिरे से महसूस करने लगते हैं. आबिद सुरती की कहानियां इस अंदाज़े-बयां के कारण ही ताज़ा और पठनीय लगती हैं. कुशल चित्रकार और कार्टूनिस्ट होने के कारण वे ज़िन्दगी के रूपों को बहुत गहराई से देखते हैं और उनकी विद्रूपताओं को व्यंग्य बनाकर प्रस्तुत करते हैं, जिससे कहानी पढ़ते-पढ़ते पाठक स्तम्भित रह जाता है. 'आतंकित' कहानी में चित्रित सारा घटनाक्रम ऐसा है जिससे सभी लोग परिचित हैं, क्योंकि राजनैतिक पाखंड ने हमारी ज़िन्दगी को पूरी तरह ग्रस लिया है, किन्तु इस राजनैतिक आतंक की मानसिक अनुभूति कितनी पीड़ादायक होती है, इसकी अनुभूति इस कहानी के पति-पत्नी के त्रास से हो जाती है. जो कुछ अमानवीय हमें सहन करना पड़ रहा है, उससे हमारा बाहरी जीवन जितना प्रभावित हो रहा है, उससे कहीं अधिक मनुष्य की मानसिक दुनिया आतंकित हो रही है. वर्तमान व्यवस्था आदमी को भीतर से कितना तोड़ती है, इसका तीख अहसास यह कहानी कराती है.

वास्तविक व्यंग्य की ताक़त भाषा के खिलंदड़-प्रयोग में उतनी नहीं होती जितनी जीवन स्थितियों के भीतर से निकलने वाले व्यंग्य में होती है. आबिद सुरती एक सफल कार्टूनिस्ट हैं, किन्तु कहानियों में उनका व्यंग्य जीवन की विकट स्थितियों से व्यंजित होता है, इसलिए उसकी मारक शक्ति भी अधिक होती है. 'बिज्जू' तथा 'तीसरी आंख' जैसी कहानियों का व्यंग्य उन परिस्थितियों के बीच से उपजता है जिन्हें पात्र झेल रहा है. 'तीसरी आंख' के करोड़पति नायक की त्रासदी वस्तुतः आम आदमी की त्रासदी है और सुख की तलाश में वह अपनों से क्या-क्या उम्मीदें करता है किन्तु अन्ततः वह पाता है कि सारे सम्बन्ध कोरे छलावे हैं, किन्तु ये छलावे समझ में तब आते हैं जब व्यक्ति का सब कुछ दांव पर लग चुका होता है. 'बिज्जू' कहानी में भी सम्बन्धों की निरर्थकता पर तीखी टिप्पणियां हैं. 'सांताक्लोज के तीन क्लोज़अप' कहानी में भी सम्बन्धों की भयावह तिक्तता को बाल सुलभ जिज्ञासाओं के माध्यम से व्यक्त किया गया है. किन्तु मानवीय सम्बन्धों की रीत चुकी ऊष्मा का अनुभव इस संग्रह की

'सतह' कहानी बड़ी कुशलता से व्यक्त करती है. एक नंगे व्यक्ति के माध्यम से, जो इस संसार के व्यवहार के कारण नंगा हुआ है, जीवन सत्य तक पहुंचने की चेष्टा करती है. यह रचनात्मक चेष्टा इस कहानी को एक नया आयाम प्रदान करती है, क्योंकि नंगा व्यक्ति आदिम मनुष्य के सच को प्रकट करने का साहस दिखाता है- 'कपड़े पहनता हूं तो मैं तुम्हारा अक्स बन जाता हूं. सच कहूं तो मनुष्य बन जाता हूं. हिंसक वृत्तियां भीतर जाग उठती हैं. किसी की हत्या करने को जी चाहता है. पराई स्त्री पर बलात्कार करने की इच्छा होती है.' भले ही हम यह समझें कि सभ्य बनकर हम एक पवित्र ज़िन्दगी जी रहे हैं, पर अपने आवरणों के नीचे न जाने कितने अपराध हम कर रहे होते हैं. इसलिए नंगा आदमी वस्त्र पहने व्यक्ति को जब चुनौती देता है कि अपने अंतरमन से अपनी असलियत पूछे तो वह अपने सारे कपड़े उतार देता है. 'रहस्य एक बालक के जन्म पूर्व हुए अपहरण का' कहानी भी अपराधबोधग्रस्त व्यक्ति के ऐसे पश्चाताप की कहानी है जो अपने ही पुत्र का अपहरण होते हुए देखता है, क्योंकि सामाजिक स्तर पर वह यह नहीं कह सकता कि जन्मने वाला बच्चा उसका है और शबनम सारी दुनिया को धोखा दे रही है, किन्तु असल बात तो यह है कि आसिफ़ शबनम तथा अपने मित्र को और शबनम के पति को धोखा दे रहा है. यही जीवन की विचित्रताएं और विडम्बनाएं हैं जो हमें झेलनी पड़ती हैं.

सारी भौतिक प्रगति के बावजूद अभी हमारा समाज मानसिक तौर पर घोर अंधविश्वासों में फंसा है और इन ज़ंजीरों से निकलने का प्रयत्न करता है. उसे या तो समाज की उपेक्षा मिलती है जैसे 'भैंसों वाली गली' कहानी में अशोक को उसके पिता से फटकार के रूप में मिलती है या समाज से कठोर दण्ड मिलता है जैसे इस कहानी में मंछा काकी की बहू को दण्डित किया जाता है और उसे लगभग मार दिया जाता है. उसके बाद भी ओझा यही कहता है, 'कल सुबह तक ठीक हो जानी चाहिए, वरना मुझे बुलाने में संकोच न करना.'

'अनाड़ी नंबर वन' कहानी भी आज के उस दौर को उघाड़ती है जिसमें सरल और सीधे लोगों के लिए कहीं गुंजाइश नहीं है तथापि यह कहानी कोई गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाती, क्योंकि कहानी में व्यक्त स्थितियां पाठकों के लिए बहुत परिचित हैं. आबिद सुरती की कहानी-कला का कौशल उनके शैल्पिक संयोजन में है. वे कहानियों को सर्वथा नये तरीक़े से बुनते हैं और साधारण-सी स्थितियों को भी चमत्कारभरी बना देते हैं. 'तीसरी आंख', 'सतह', 'बिज्जू', 'कैनाल' जैसी कहानियों का शिल्प कहानियों की गहरी व्याख्याएं प्रस्तुत करता है। आबिद सुरती का कहानी कहने और बुनने की कला का चमत्कारपूर्ण हुनर बेहद प्रभावित करने वाला है. 'कैनाल' कहानी तो एक साथ कई शिल्प रूपों को लेकर चलती है. यह संग्रह की सबसे लम्बी, किन्तु

सबसे कुशलता के साथ बुनी हुई कहानी है, इसलिए पाठक कहानी के साथ बहता चलता है और इस रचना में वर्णित फूहड़ और अमूर्त स्थितियों से साक्षात्कार करता है.

इस प्रकार आबिद सुरती की ये कहानियां अपनी पठनीयता और शैल्पिक रचाव में ताज़गीभरी है। ❑

दस प्रतिनिधि कहानियां/आबिद सुरती/प्रकाशक-किताब घर, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली/मूल्य-125.00

भूमध्य रेखा के इर्द-गिर्द फैंटेसी का ताना-बाना

सुदर्शन नारंग काफ़ी लम्बे अर्से से लिख रहे हैं और बक़ौल फ़्लैप पर छपे परिचय, वे 'सदैव लेखन से प्रतिबद्ध' रहे हैं. उनका नया उपन्यास 'भूमध्य रेखा' प्रकाशकीय सूचना के अनुसार एक विचित्र उपन्यास है. यह किसी समय-सीमा से नहीं बंधा है. भूगोल या इतिहास से इसकी प्रतिबद्धता नहीं है. इसकी प्रतिबद्धता मानव स्वभाव से है. भूमध्य रेखा उन आधारभूत लक्षणों की कथा है जहां तर्क या विज्ञान द्वारा कोई खोज नहीं की जा सकती. यह ऐसी भूमि है जहां साहित्यकार तो क़दम रख सकता है पर राजनीति के क़दम जहां झुलस जाते हैं. पूरा उपन्यास पढ़ने पर मुझे उस भूमि का पता नहीं चल सका जहां केवल साहित्यकार ही प्रवेश कर सकता है. ज़ाहिर है, उपन्यास का कथा-सूत्र बहुत क्षीण है. इतना क्षीण कि पाठक को उसके सूत्र जोड़ने में काफ़ी मशक़्क़त करनी पड़ती है, फिर भी उसके हाथ कुछ सार्थक नहीं आता. इरफ़ान और रूबी के बीच पनपे प्रेम के साथ ही अपनी जड़ों की ओर लौटने की कोशिश करना, अपनी बेटी जानिब की सुरक्षा करना तथा उसके बहाने अपनी परम्परा की सुरक्षा करने की चिन्ता उपन्यास की कथा में पिरोये गये सवाल हैं. लेखक को भी लगता है कि इन सवालों के जवाब पाना आसान नहीं है, क्योंकि मनुष्य और मनुष्य के बीच टूटता रिश्ता जोड़ने के लिए हमें कितनी ही चीज़ों को तोड़ना पड़ता है.

किन्तु मेरे सामने सवाल यह भी है कि क्या कोई उपन्यास पाठक की परीक्षा लेने के लिए लिखा जाना चाहिए? क्या कथा-सूत्र को इतना उलझाना ज़रूरी है कि पाठक भी उसमें उलझ जाए? यदि नारंग इस उपन्यास के द्वारा कुछ गम्भीर विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं, तो पाठकों को उन विचारों तक पहुंचने के लिए समाजशास्त्र या नृशास्त्र की कोई पुस्तक क्यों नहीं पढ़नी चाहिए? दंगों, साम्प्रदायिक तनावों आदि से उपजे मानवीय सवालों से टकराने के लिए क्या किसी अमूर्त कथा का सहारा लेना ज़रूरी है? हो सकता है, मेरी अपनी समझ इतनी कमतर हो कि मैं इस उपन्यास में व्यक्त विचारों की ऊंचाई को स्पर्श न कर पाया होऊं, पर क्या गठे हुए कथा-सूत्र के बिना किसी बड़ी कृति की रचना सम्भव है? क्या कोई कृति केवल सवाल ही उठाने

का काम करती है? वह भूमध्य रेखा कौन-सी है जिस पर केवल सवाल ही सवाल उगे हैं और लेखक के पास किसी सवाल का उत्तर नहीं है.

किसी कृति के रचाव में फ़ैंटेसी आदि के द्वारा चमत्कार पैदा करने का प्रयास कोई बुरी बात नहीं है, किन्तु सार्थकता तभी है, जब सारा रचाव कृति के कथ्य का सम्प्रेषण पाठक तक कर दे. उपन्यास कोई पहेली नहीं होता जिसे पाठक हल करता फिरे. पूरे उपन्यास में इरफ़ान, रूबी, बलवन्त, इरफ़ान के अब्बा आदि में से किसी का चरित्र भी विकास नहीं पाता. सब जैसे दार्शनिक अंदाज़ में जी रहे हैं और परेशानियां झेल रहे हैं जो मानसिक अधिक है. इसलिए उपन्यास के रूप में सुदर्शन नारंग का यह उपन्यास कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाता. ❑

भूमध्य रेखा/सुदर्शन नारंग/प्रकाशक-सम्भावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़/150.00 रु.

ए-243, त्रिवेणी नगर, जयपुर-18

महेन्द्र नेह

इसमें कोई शक नहीं कि 'शेष' इस समय के पाठक की एक बड़ी ज़रूरत पूरी करता है. इसे पढ़ कर न केवल एशिया और उसके बाहर लोग क्या लिख रहें हैं, बल्कि वे क्या सोच रहे हैं, समाज और साहित्य की समस्याओं के बारे में वह भी विस्तार से जानने को मिलता है. उर्दू के साथ-साथ मुस्लिम-जगत किस तरह एक गंभीर बहस से गुज़र रहा है, उनके लिए आये इस कठिन और पेचीदा दौर में, उससे भी रू-ब-रू कराती है यह पत्रिका.

इस अंक में इराक़ी कहानियाँ और कविताएं प्रकाशित की गई हैं, उनमें वर्तमान इराक़ी-संकट कहीं दिखाई नहीं देता. द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जिस तरह फ़ासिज़्म के विरुद्ध जर्मन और उसके बाहर लेखकों ने मुहिम छेड़ी थी, अनेक लेखक नये मैदान में आये थे, इस तरह का जज़्बा इन रचनाओं में दिखाई नहीं देता. जबकि 'शेष' में प्रकाशित गुजरात-त्रासदी को लेकर अनेक कविताएं व अन्य रचनाएं हमें साम्प्रदायिकता का घिनौना व अमानवीय चेहरा दिखाती हैं. हिन्दी की अन्य लघु-पत्रिकाओं में भी गुजरात के बारे में पूरी मानवीय सोच से परिपूर्ण रचनाएं लगातार प्रकाशित हो रही हैं. कहीं ऐसा तो नहीं कि इराक़ में आज जो लिखा जा रहा है, वह उपलब्ध न हो सका हो.

भारतीय मुसलमानों और समूचे इस्लाम जगत में मुसलमानों के वर्तमान और भविष्य पर इस अंक में जो सामग्री है, वह बहुत से नये सवाल खड़े करती है. डॉ. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव व बादशाह हुसैन रिज़वी ने रफ़ीक़ ज़करिया के आलेख और स्वयं की सोच से जो सुझाव दिये हैं, उन पर अमल होना चाहिए. ज़ाहिर है ये काम अपने आप शुरू नहीं होगा. सामाजिक-संस्थाओं को यह काम करना होगा. एक और महत्त्वपूर्ण नुक़्ता जो फ़हमीदा रियाज़ के नार्वे के संस्मरणों से उभरता है, वह यह कि उर्दू के लेखकों को इस्लामवाद और मुस्लिम लेखकों तक सीमित रहने की संकीर्ण सोच से बाहर आना होगा. यदि मुस्लिम लेखक आपस में गोष्ठियां/सेमीनार करें, तब भी उन्हें अपनी सोच का दायरा बढ़ाना होगा. नवाल से बातचीत करते हुए फ़हमीदा रियाज़ जिन नतीजों पर पहुँची हैं, वह मामूली नहीं है. हालांकि नवाल के विचारों को सही मानने में वे बार-बार लड़खड़ाती हैं और ईमानदारी से अपनी वैचारिक कमज़ोरी या कहें द्वन्द्व को ज़ाहिर करती हैं.

मेरा मानना है कि दुन्या भर के मुसलमानों के विरुद्ध कोई सोचा-समझा षड्यंत्र नहीं हो रहा. कहीं न कहीं ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी इसके लिए ज़िम्मेदार हैं. मुसलमान

स्वयं भी इन परिस्थितियों में फंस जाने के लिए एक हद तक दोषी हैं. मुस्लिम जगत के बीच एक गहरे आत्म-मंथन और आत्मालोचना का समय है यह. बहुत से लोगों ने सोचा कि शायद ओसामा बिन लादेन या उग्रवाद उनकी मौजूदा मुश्किलों को हल कर देंगे. या फिर इस्लाम के उसूलों पर चलने से, धार्मिक रद्दे-अमल से चीज़ें बदल जायेंगी. लेकिन परिस्थितियाँ अधिक गंभीर पहल की माँग करती हैं. मुस्लिम-समाज को यह नहीं समझना चाहिए कि इस लड़ाई में वे अकेले हैं. बुश-ब्लेयर साम्राज्यवाद के हमलों के शिकार केवल मुसलमान नहीं हैं. दुन्याभर के शांति और जनतंत्र-प्रिय लोग बुश-ब्लेयर साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक बड़ी ताक़त हैं. अफ़सोस यह है कि ये बड़ी ताक़त एकजुट नहीं है और इसकी पहल को उतना समर्थन नहीं मिल पाता, जितना मिलना चाहिए. मुस्लिम फ़िरक़ापरस्त/मुल्ला-मौलवी और हिंदू फ़िरक़ापरस्त पंडित-पंडे व राजनीतिज्ञ इस पहल के कट्टर विरोधी हैं, उग्रवादी और लादेन के अनुयायी तालिबान और उनके समर्थक भी इसके ख़िलाफ़ हैं. मुसलमानों का एक बड़ा हिस्सा इन दो ध्रुवों के बीच झूलता रहता है. इस्लाम के प्रति बढ़ता मज़हबी-रुझान भी इस जनतांत्रिक पहल को कमज़ोर करता है.

ज़ाहिर है कि केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता की ऊपरी नारेबाज़ी से काम चलने वाला नहीं है. इस्लाम की जकड़बंदी से भी मुसलमानों को, स्वयं को मुक्त करना होगा. हिंदुस्तान में हिंदुओं का काफ़ी बड़ा हिस्सा है जो हिंदू-धर्म की संकीर्णताओं से उभर चुका है, इसीलिए कट्टर हिंदूवाद के विरुद्ध एक बड़ा प्रतिरोध हिंदू-समाज के अंदर विकसित हुआ है. मेरे अनेक ऐसे मित्र हैं जो धार्मिक होते हुए भी साम्प्रदायिक कट्टरता के ज़बरदस्त विरोधी हैं, बल्कि मुहिम चला रहे हैं. क्षमा करें, 'शेष' के इस अंक में उज़्मा नाहीद के लेख को शुरुआत में देना और प्रमुखता देना मेरी समझ में नहीं आया. कुर्आन, गीता, वेद, बाइबिल–इसमें संदेह नहीं कि महान विचारों से भरे हैं, इसके बावजूद आज के ज़माने में, वर्तमान मनुष्य और समाज की समस्याओं को हल करने में उनकी भूमिका बहुत सीमित ही हो सकती है, निर्णायक और वैकल्पिक नहीं हो सकती. समस्या चाहे इस्लाम-जगत की हो या वर्तमान संकट से गुज़र रहे किसी भी समाज की, उसका हल वर्तमान ज्ञान, विज्ञान और मानवता के अपने ऐतिहासिक अनुभवों से ही संभव है.

इसके अलावा एक और महत्त्वपूर्ण सच्चाई है, वह यह कि धर्म के नाम पर धर्म के पतनशील तत्त्व अब पूरी दुन्या में सक्रिय हैं. वे समूची 'धर्म' नामक संस्था के ही अंग हैं. इस तरह के स्वरूप वाला धर्म वर्तमान मानव-समाज की समस्याओं का विकल्प देने में पूरे तौर पर अक्षम और असमर्थ है. 'धर्म' को साहित्य, संगीत, ज्ञान, विज्ञान यानी नये ज़माने और नये मनुष्य की संस्कृति से ही रिप्लेस किया जा सकता है. अतः नवाल की बात पुनः इसी दिशा में संकेत करती है कि, 'अस्ल ज़ुरूरत ये है

कि मज़्हब को बीच में घसीटा ही न जाए.'

अंत में एक बात और कहना चाहूँगा कि नये ज़माने का नया इन्सान केवल साहित्य और संस्कृति के माध्यम से ही नहीं उभरेगा बेशक साहित्य और संस्कृति उसके अत्यधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण उपादान होंगे. नये ज़माने का नया इन्सान साम्राज्यवादी व्यवस्था को ध्वस्त करता हुआ, वर्ग-संघर्षों की आग में तप कर निकलेगा. बेशक वह पुराने ज़माने की प्रगतिशील और परिवर्तनकारी शक्तियों से भिन्न और गुणधर्म में कहीं बढ़ा-चढ़ा और कहीं अधिक सांस्कृतिक-मनुष्य होगा. ❑

80, प्रताप नगर, दादाबाड़ी, कोटा-324009

(2)

जुनैद मुंकिर

अक्टूबर-दिसंबर के शुमारे में पाकिस्तानी मुसन्निफ़ा फ़हमीदा रियाज़ का 'शीशए दिल' देखने और पढ़ने को मिला. ये जानकर राहत हुई कि पाकिस्तान (जो दाढ़ीदार बुन्याद परस्तों का गढ़ है) में ज़रा-सी मुसलमान और ज़ियादा नास्तिक, फ़हमीदा रियाज़ जैसी ख़ातून सही-सलामत मौजूद हैं. मुहतरमा ने बेहद सलीक़े से पाठकों को नार्वे में होने वाली दानिशवरों की कान्फ्रेंस में शरीक जैसा कर लिया है. बेदार होने के साथ-साथ मुसलमान होने की कशमकश जिस तरह से फ़हमीदा को हिसार में लिए हुए है, उससे नजात पाने के लिए उन्हें चाहिए कि वह फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' की तुर्बत पर जाकर तौबा कर के ख़ालिस और यकजा हो जाएं, जिन्होंने कहा है—

आइए हाथ उठाएं हम भी, हम जिन्हें रस्मे-दुआ याद नहीं
हम जिन्हें सोज़े-मुहब्बत के सिवा, कोई बुत याद नहीं, कोई ख़ुदा याद नहीं

फ़हमीदा रियाज़ अपने आप में परेशान हैं, उन्हें पता नहीं कि इस्लाम उनका तआक़ुब कर रहा है या कि वह इस्लाम का तआक़ुब कर रही हैं, वह दिलो-दिमाग़ के दरमियान मुअल्लक़ हैं, यही उनका रंजो-ग़म नज़र आता है. वह नवाल अलसादवी को हर-हर पहलू से दर्दे-मुसलमानी समझाने की कोशिश करती हैं और खीजती हैं कि नवाल समझ ही नहीं पातीं, जब कि ज़ुरूरत है कि वह नवाल को समझने की कोशिश करें और मस्लकी-दर्द से छुटकारा पाएं. फ़हमीदा इस्लामी तमद्दुन के ख़सारे के अंदेशे से परेशान हैं जो कि अरब से लेकर इंडोनेशिया तक मुख़्तलिफ़ रंगों में फैला हुआ है, इससे वह नाहक़ ही परेशान हैं कि इस्लाम से पहले भी वहां कोई कल्चर रहा होगा, जो पामाल हुआ है. शीशों के मकानों में रहने वाले और साइंसी तरक़्क़ी की बरकतें बांटने वाले योरोपियंस का और उनके बुज़ुर्गों का भी कोई क़बीलाई कल्चर रहा होगा

जिसकी क़ुर्बानी देनी पड़ी होगी. नवाल बार-बार कहती हैं कि इंसानी दर्द का इलाज बाक़ी है और फ़हमीदा बार-बार उन्हें इस्लामी नब्ज़ थमा देती हैं, वह तालिबान से नफ़रत भी करती हैं और उन पर अमरिकी कार्रवाई से मलूल भी हैं. वह सद्दाम हुसैन को 'ख़बीस' भी कहती हैं, मगर उसकी पामाली से परेशान भी हैं.

फ़हमीदा या उन जैसे लोग इसलिए परेशान हैं कि वह दर्दे-इस्लामी ढो रहे हैं, ये एक तरह से अज़ीयत पसंदी है, इससे नजात पाने के लिए इन्हें दर्दे-इंसानी की गहराइयों में जाने की ज़ुरूरत है. बात लगभग एक ही है, मगर इस नज़रीयाती तब्दीली में कर्ब का मदावा है. अब हिज़्बुल्लाह (अल्लाह के फ़रमान के मुताबिक़) वास्ते सवाब जिहाद कर रहे हैं और जन्नत-रसीदा हो रहे हैं, तो उनकी मय्यत पर हमें आंसू बहाने की क्या ज़ुरूरत है ? मगर फ़हमीदा कुढ़ रही हैं, क्योंकि वह सिर्फ़ इंसान नहीं हैं, जिस तरह से कि नवाल अलसादवी हो चुकी हैं, हालाँकि ज़ेल का पैराग्राफ़ उनके मज़्मून का ही एक हिस्सा है, ''सामने सड़क पर दो फ़िरंगी औरतें चली जा रही थीं, मुस्लिम कल्चर से महरूम. वह बाक़ाइदा टांगों को हरकत देती हुई चल रही थीं. उनकी टांगें भी नज़र आ रही थीं. मुड़ कर दरीचे से कमरे के अंदर झांका, वहां भी फ़िरंगी औरतें सब को नज़र आ रही थीं, उनके सर के बाल नज़र आ रहे थे, ये बाल देख कर मर्दों पर हवस का बेक़ाबू करने वाला दौरा नहीं पड़ रहा था ? ऐ परवरदिगार ! ऐसा क्यूंकर मुम्किन हुआ ?''

इस शुमारे का इदारिया जो कि मुहतरमा उज़्मा नाहीद की तरफ़ से है, मायूसकुन है. 'शेष' के पाठकों का अपना एक मे'यार है जिनको ऐसी संकुचित बातें रास नहीं आ सकतीं. उज़्मा नाहीद की तह्रीर पर एक तवील बहस की जा सकती है, मगर 'शेष' के सफ़्हात इसकी इज़ाजत नहीं देंगे. मुसलमान मुफ़क्किरीन का यह अलमीया रहा है कि वह ख़ुद-सताई और ख़ुद-फ़रेबी के शिकार हैं. इनका वतीरा बन चुका है कि ये मौजूदा दौर के मुसलमानों पर गुमराही का इल्ज़ाम लगाएं और माज़ी के तलवारबाज़ों को सराहा करें. मेरा मुशाहदा ये कहता है कि आज का मुसलमान अपने दीन की पैरवी जिस शिद्दत के साथ करता है, उतना पहले कभी नहीं किया. पहले के लोग नौ मुस्लिम हुआ करते थे, अब ता'लीम आने के बाद शिद्दत के साथ मुसलमान हो गए हैं. मज़हबी ता'लीम ने ही इन्हें तालिबान और हिज़्बुल मुजाहिदीन बना दिया है, जो कि इनका दीन इन्हें सिखलाता है. चूल कहां पर ढीली है ? इस पर किसी मौलाना या क़ौमी रहनुमा को मुंह खोलने की हिम्मत नहीं पड़ती है.

अक्सर मुस्लिम जगत के शिगूफ़ेबाज़-रिसालों में चर्चा हुआ करता है कि फ़ुलां साइंसदां ने क़ुर्आन को पढ़ने के बा'द इस्लाम क़बूल कर लिया. ऐसा एक बार आर्म स्ट्रांग के बारे में भी उड़ा था कि उसने चांद पर शक़्क़ुल-क़मर के निशान देखे और अज़ान की आवाज़ सुनी, यहां तक कि वह मुसलमान हो गया. हम कहते हैं कि

मुसलमान तालिब इल्मों को क्यूं नहीं क़ुर्आनी साइंस पढ़ाई जाती ? हदीसी इलाज के मर्कज़ क्यूं नहीं क़ाइम किए जाते ? अगर इन्हें पढ़ कर अंग्रेज़ साइंसदां क़ाइल हो जाते हैं ! पाकिस्तान के Q TV चैनल पर मौलाना हस्बे-आदत मौजूदा मुसलमानों पर अफ़सोस फ़रमा रहे थे कि ये पैग़ंबर के बतलाए हुए इलाज पर अमल नहीं करते. बीमारियां थीं कैंसर और एड्स वग़ैरह और इलाज था सात अरबी खजूर का सेवन प्रतिदिन.

मुहतरमा उज़्मा नाहीद साहिबा ! अज़्मत थी उन तीन हिंदू भाइयों की, जिन्होंने अपने दोस्त के नमाज़ी साथी के लिए, नमाज़ के लिए जगह साफ़ की, वुज़ू का पानी मुहय्या किया और जाए-नमाज़ के लिए धुला हुआ साफ़ कपड़ा फ़राहम किया, उसके बा'द नमाज़ी के पीछे हाथ जोड़ कर उस वक़्त तक खड़े रहे, जब तक कि नमाज़ ख़त्म न हुई. उनकी इस दर्यादिली और वसीउन्नज़री को आप ख़ला समझती हैं. भला आप क्या किसी हिंदू मेहमान की पूजा के लिए अपने घर में शिवलिंग और आरती वग़ैरा मुहय्या करा सकती हैं ? आप के लब पर होगा-लाहौल वला क़ुव्वत. आप लोग एहसासे-बरतरी के शिकार हैं, यही वज्ह है, सारी दुन्या में मुसलमानों की पस्पाई की.....

803, संगीता अपार्ट्मेंट, सिविल लाइंस, कानपुर-208001

(3)

गंगानंद झा

उर्दू का अदब हिन्दी वालों के लिए मुहय्या कराकर आप एक अहम काम कर रहे हैं. अपनी बात को मैं एक वाक़िए की चर्चा से साफ़ करना चाहूँगा. बात सन् 1989 की है, 'बाबरी मस्जिद–राम मन्दिर' का हंगामा चल रहा था, तभी कुछ दोस्तों ने शहर की दीवारों पर जगह-जगह चिपके बहुत सारे पोस्टर्स की ओर ध्यान दिलाया. ये पोस्टर्स उर्दू में थे, इनके मज़्मून के बारे में कहा जा रहा था कि मुसलमानों को बाबरी मस्जिद के नाम पर भड़काया जा रहा है. मैंने अपनी 'अलिफ़-बे-पे' की जानकारी की मशक़्क़त की तो पाया कि वह कौमी यपकजहती पर भारत सरकार के सामान्य इश्तिहारों में से एक था. पर मेरे दोस्तों ने मेरी उर्दू की जानकारी को सर्टिफिकेट देने से इन्कार कर दिया. हिन्दी-उर्दू के बीच पुल का न होना कितना ख़तरनाक़ हो सकता है, यह बात ऊपरी उदाहरण से साफ़ हो जाती है. भाषा किसी जगह में रहने वालों के बीच सरोकार क़ाइम रखने का अहम ज़रीआ होती है, इसलिए एक सीमित जगह में भाषा का एक ही रूप होता है. इस मा'नी में हिन्दी-उर्दू विसंगति (incompatibility) पेश करते हैं कि दोनों एक ही इलाक़े से सम्बन्धित हैं. इसका नतीजा होता है कि एक

साथ रहते हुए भी इन दो भाषा-भाषी लोगों के बीच संवाद का रिश्ता ठीक-ठीक बन नहीं पाता. हिन्दी-उर्दू इन दो भाषाओं के बीच exclusiveness का रिश्ता हो जैसे. भाषा माँ की तरह हमें पालती है. माँ के लिए प्यार के एहसास के बारे में कहीं पढ़ा था, 'हमें मां के लिए अपने जज़्बे की गहराई का सही एहसास मां के चले जाने के बा'द ही हो पाता है.' हम हिन्दी-उर्दू वाले तो अपनी मां की पहचान भी नहीं रखते. इससे हमारी अपनी शख़्सियत बेअसर तो नहीं रह सकती. भाषा हमें अपने आप से पहचान कराती है, इसे मैं एक दिलचस्प तज्रिबे से बयान करना चाहूँगा.

यह तब की बात है, जब मैं कॉलेज में पढ़ाया करता था. हमारे प्रिंसिपल संस्कृत, पाली और हिन्दी के विद्वान थे, साथ ही बहुत ही सीधे और भले; लोगों की इतनी इज़्ज़त करते कि सामने वाले को मुग़ालता हो जाए. दो आदमियों ने उन्हें परेशान किया हुआ था, एक कॉलेज के सेक्रेटरी जो उनकी नियुक्ति को स्थाई नहीं कर रहे थे और दूसरे जवाहरलाल नेहरू जिनकी वजह से उनके अनुसार भारत हिन्दू-राष्ट्र नहीं बन पाया. मैंने एक दिन बातों-बातों में उनसे कहा, 'सर, एक सवाल पूछना है; कभी ऐसा हो कि आपको लंबे समय के लिए तमिल ब्राह्मणों के साथ रहने का मौक़ा मिले और फिर वहाँ भोजपुरी बोलने वाला दाढ़ी वाला मौलवी मिले, तो आपको किसके साथ जियादः अच्छा लगेगा ?' प्रिन्सिपल साहब की आंखें चमक उठीं, बरजस्ता उनके मुँह से निकल पड़ा, "हँऽजी, उहाँ तो मौलविये आपऽन आ नीमन लागी."

देश के जिस इलाक़े में हिन्दी-उर्दू बोली जाती है, वह देश का दिल (Heartland) कहलाता है. यही देश का सबसे पिछड़ा हुआ इलाक़ा भी है, इसको वे लोग cow-belt कहते हैं. भारत की राष्ट्रीय अवधारणा तथा सत्ता (concept and authority) के प्रति सहज लगाव इस इलाक़े की पहचान रही है. जब कि देश के बाक़ी इलाक़े अपनी अपनी इलाक़ाई पहचान से जाने जाते रहे हैं. भारत के लिए किए गए किसी भी आन्दोलन को जन-समर्थन सबसे पहले इसी इलाक़े में मिलता और बनता आ रहा है, लेकिन लीडरशिप इस इलाक़े के बाहर से ही आती रही है. महात्मा गाँधी के आह्वान पर आज़ादी की हलचल की शुरुआत यहीं हुई. पर गाँधी यहाँ से नहीं थे. जिन्नाह को पाकिस्तान का क़ाइद बिहार-यू.पी. ने ही बनाया. वे भी गुजरात से थे. राष्ट्रीय स्वयम् सेवक संघ के संस्थापक श्री केशव हेडगेवार महाराष्ट्रीय थे, संघ का मुख्यालय नागपुर (महाराष्ट्र) आज भी है; पर कौन नहीं जानता कि हिन्दी क्षेत्र में ही आर.एस.एस. परवान चढ़ा. आख़िर कोई वज्ह तो होगी कि लीडरशिप के लिए यह क्षेत्र देश के दूसरे हिस्सों का मुहताज बना रहा है. इस सवाल का जवाब क्या हमारी भाषाई पहचान की उलझन में छिपा हुआ है ?

एशियाई समाज का ख़याल समष्टिगत अथवा अन्योन्याश्रित (collective or interdependent) है. उनकी विश्वदृष्टि विस्तृत और प्रासंगिक (broad and

contextual) होती है. इसके अनुसार घटनाएँ काफ़ी जटिल और कई एक बातों से, जिनमें से कई एक साथ-साथ काम करने वाले होते हैं, से निर्धारित हुआ करते हैं.

पश्चिमी समाज प्रकृति को व्यक्तिवादी या स्वतन्त्र मानता है. यह दृष्टिकोण पश्चिमी समाज का किसी विशेष वस्तु पर उसे उसके सन्दर्भ से पृथक रखकर फ़ोकस से संगति रखता है. वे समझते हैं कि वस्तुओं को प्रभावित करने वाले नियमों को जाना जा सकता है और वे वस्तुओं के आचरण को नियन्त्रित कर सकते हैं.

उर्दू साहित्य के ज़रीए हमें एशियाई समाज के सन्दर्भ में अपने पर फ़ोकस करने का सुयोग मिलता है. उर्दू साहित्य हमारी अपनी continuity को समझने का कारगर औज़ार हो सकता है. आज के ग्लोबलाइज़ेशन के दौर में पश्चिमी समाज का मूल्य-बोध हम पर हावी हो रहा है, अपनी एशियाई पहचान खोने का ख़तरा हक़ीक़त बन रहा है. इसलिए 'शेष' की प्रासंगिकता को छोटा या नज़रअन्दाज नहीं किया जा सकता. ❑

126A/24A, चण्डीगढ़-160023

ख़तों से:

शुमारा-30...इस बार कम्पोज़र ने मेरी तह्रीरों के साथ न जाने क्यों कुछ ज़ियादः ही छेड़खानी की है! 'दी वार जर्नल्स' में सफ़्हा-149 पर नज़्मों के इक़्तिबास से पहले जो नस्री टुकड़ा है, वो गोपीचंद नारंग साहिब का है; वहां उनका नाम होना चाहिये था. सफ़्हा-150 की बिल्कुल आख़िरी सतर यूं होनी चाहिये थी :

...जर्नल्स की इख़्तितामी सतरें भी बहुत मा'नाखेज़ और बहुत...मम्नून रहूंगा अगर दुरुस्त फ़र्मा दें.

डॉ. प्रेम भंडारी साहिब का ख़त पढ़ कर मुझे अपनी तह्रीर पर अफ़सोस हुआ कि मेरे लिखे लफ़्ज़ इतने नाकारा थे, वर्ना डॉक्टर साहिब को इतनी ज़हमत न उठानी पड़ती, दरअस्ल मैं अपना नुक़्त-ए-नज़र बजा तौर पर रखने से क़ासिर रहा. दरअस्ल मुझे परेशानी—'दिल धड़कने का सबब'—से थी. मुम्किन है, मेरी तह्रीर में ऐसा कुछ रहा हो, जिससे डॉक्टर साहिब को लगा हो कि मैंने उनके शे'र को कार्बन कॉपी या चर्बा तसव्वुर किया और कहा. मैं उनसे मा'ज़िरत-तलब हूं. वो सतरें लिखते वक़्त मेरा ज़ेह्न बिल्कुल साफ़ था और मुझे ये गुमान भी न था कि बात का ये पहलू भी सामने आ सकता है. उन्होंने इस सिलसिले के दो एक शे'र ऐसे लिख दिये जो आयंदा कभी मेरे काम आएंगे.

मग़ूबअली, 49 धर्मदास, नजीबाबाद (यू.पी.)

'शेष' ख़ूब से ख़ूबतर हो गया है. कुछ अच्छी चीज़ें जो नहीं पढ़ पाता हूं, 'शेष' में मिल जाती हैं. ताज़ा शुमारे में इराक़ी कहानियां पसंद आयीं. भाई मग़ूबअली की 'सफ़र-कहानी' की तमाम क़िस्तें शौक़ से पढ़ीं.

शमोएल अहमद, 301 ग्राण्ड अपार्टमेंट, न्यू पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना

आपका ये शुमारा वाक़िई अच्छा है...मैं इलाहाबाद में रहता हूं और इलाहाबाद हिंदी वालों का मर्कज़ है. उनके साथ उठना-बैठना रहता है, इसलिये हिंदी भी इतनी ही पढ़ता हूं, बल्कि बा'ज़ हिंदी वालों से ज़ियादः हिंदी पढ़ता हूं. उर्दू रस्मे-ख़त के सिलसिले में आपकी राय से मुत्तफ़िक़ हूं. हिंदी का एक से एक तरक़्क़ीपसंद अदीब उर्दू के बारे में खुला ज़ेह्न नहीं रखता—ये मेरा तीस साला तज्रिबा है. फिर भी हमें मिल-जुल कर ही काम करना है. 'शेष' देख कर खुशी हुई.

अली अहमद फ़ातिमी, 229-ए, लूकरगंज, इलाहाबाद-211001

आपने राजेंद्र यादव के मज़्मून की फ़ोटो कॉपी इर्साल की. इसमें जो बातें कही गयी हैं, वो दलाइल के साथ नहीं हैं. ऐसा लगता है कि राजेंद्र यादव ने मुसलमानों को बुरा कहने के लिये मज़्मून लिखा है. उनके मज़्मून में तज़ाद (विरोधाभास) भी बहुत

है. आपने मा'क़ूल जवाब दिया है, लेकिन आपको चिड़ाने के लिये लिख दिया कि तुम्हें जवाब देना भी नहीं आता...वारिस अलवी के बारे में मैंने अहमद हमेश साहिब को लिखा है. भारतीय जनता पार्टी के दौर में वो गुजरात उर्दू अकादमी के चेयरमेन बने थे, लेकिन उन्होंने गुजरात में मुसलमानों पर जो ज़ुल्म हुए, उसके बारे में ज़बान भी नहीं खोली है, उन्हें कैंसर है, इसलिये वो अकादमी की चेयरमेनशिप छोड़ना भी नहीं चाहते हैं. उनको बतौर चेयरमेन जो सहूलतें हासिल हैं, उनको गंवाना भी नहीं चाहते.

ख़लील तनवीर, 4/800, गांधी नगर, मल्लाह तलाई, उदयपुर-313001

इराक़ी कहानियां मुझे काफ़ी मुतास्सिर कर गयीं. सद्दाम हुसैन के अहदे-आमिरीयत का कर्ब झलकता हुआ नज़र आया. मुझे बेहद मर्सरत हुई. हिंदी में एक ऐसे ही जरीदे की ज़ुरूरत थी. ये काम आपके हाथों ख़ुदा ए तआला को मंज़ूर. आप एक अच्छे अफ़्सानानिगार हैं. साहिबे-नज़र हैं, जानते हैं कि क्या शाए' करना है, क्या नहीं.

हमारे मुल्क में उर्दू रसाइल मग़्रिबी अदीबों के हाथों बिक चुके हैं. उन उर्दू शाइरों, अदीबों के धड़ाधड़ नंबर निकल रहे हैं. पढ़ने के लिये कोई है नहीं. बहरहाल ये ग़म जांसोज़ है. माद्धी निज़ाम का ये भी एक अंदाज़ है. बहरहाल आपका क़दम सेहतमंद है—हिंदी के ज़रीए ही सही, मुझ जैसे कममायः शख़्स के लिये, जो बेशतर अंग्रेज़ी पर इक्तिफ़ा करता है.

इशरत ज़फ़र, 105/654, फ़हीमाबाद कॉलोनी, कानपुर (यू.पी.)

इराक़ी अदब पर मुश्तमिल हालिया शुमारा आपकी मेहनत, जांफ़िशानी पर दाल करता है. कहानीकारों के तआरुफ़ से पता चलता है कि कमोबेश सभी कहानीकार ग़ैर मुक़ीम इराक़ी हैं. चुनांचे उनकी कहानियों की फ़ज़ाबंदी यूरोपियन तहज़ीब से आरास्ता थी. ऐसी कोई इन्फ़िरादी ख़ूबी नज़र नहीं आयी जिससे ग़ैर यूरोपीपन या इराक़ीपन में इम्तियाज़ किया जा सके. एक, दो कहानियां ही ऐसी लगीं जिसमें कुछ क़द्रे-मुश्तरक नज़र आयी, लेकिन उस शिद्दत के साथ नहीं कि जिस पर ख़त कशीद किया जा सके.

नज़्में और दीगर शे'री तख़्लीक़ात के इंतिख़ाब में भी आपको कमाल का मलका हासिल है. 'आपबीती' पर क्या लिखूं? आपने मेरे गुज़िश्ता ख़त के आपत्तिजनक हिस्सों को हज़्फ़ करके छापा जिससे पता चला कि जो साक़ी फ़ारूक़ी साहिब का ख़ास्सा है, वो हबीब 'हुबाब' के यहां ऐब के ज़ुमरे में शुमार किया जाएगा. मज़्मून से पता चलता है कि साक़ी साहिब न तो मीर व ग़ालिब के-से साक़ी हैं और न ही अल्लामा इक़्बाल के आयडियल साक़ी जैसे हैं, बल्कि ख़ालिस 'कलाली' छाप साक़ी हैं. अच्छा-भला लिखते-लिखते उन्हें जब लगता है कि इसमें कलालीयत तो है नहीं, चुनांचे गाली-गलोच पर उतर आते हैं और जबरन क़ाइल करवाते हैं कि मैंने जो कुछ

लिखा है, वो अदब है.

मेरा ख़याल है कि जिस शह्र में 'शेष' जाता हो, वहां के किसी उस्ताद शाइर के तस्दीक़ी नोट पर ही वहां के दीगर शुअरा के कलाम का इंतिख़ाब करें.

हबीब राहत 'हुबाब', 146, इमलीपुरा, गली नं. 1, खण्डवा (म.प्र.)

किसी भी लेखक को पसंद या नापसंद करना पाठक का अधिकार है. एक ही रचना किसी को बहुत पसंद आती है तो किसी को क़तई नहीं. रचना की पसंद अलग बात है, लेकिन कौन लेखक कमलेश्वर से घबरा गया या कृष्णा सोबती स्नॉब लेडी हैं और दिल्ली वाले उनके ठाठ-बाट को देख कर हीन-भावना से ग्रस्त हैं, इस तरह के स्वीपिंग-रिमार्क्स ख़ुद हीन-भावना की उपज हैं. एक गंभीर लेखक को इनसे बचना चाहिए.

लेखक संगठनों की एकता के बारे में आपने जो लिखा, वह सार्थक है. लोग बातें ज़्यादा बनाते हैं, वास्तविक एकता के लिए काम कम करते हैं. एक ही ख़ानदान की विभिन्न भाषाओं की सामूहिक गोष्ठियां ज़रूर होनी चाहिएं. यह काम स्थानीय स्तर पर शुरू किया जाए और आगे बढ़ाया जाए! तभी बेगानापन दूर होगा और संगठित लेखकों की एक आवाज़ होगी.

भीमसेन त्यागी, सं. भारतीय लेखक, डी-180, सेक्टर-10, गौतम बुद्ध नगर, नोएडा

'शेष' का ताज़ा अंक इराक़ी कहानियों पर केंद्रित मिला. धन्यवाद. इस अंक की कहानियाँ कमाल की हैं भाई. आपके चयन की प्रशंसा करनी होगी. शेष सामग्री का अधिकांश भी, विचारोत्तेजक है, पठनीय है. इस अंक के लिए बधाई.

कुमार अम्बुज, 6/1, शक्ति नगर (प्रथम तल) मेन रोड, भोपाल-462024

किसी पर्चे की पेशकश इतना आसान काम नहीं है. ख़ूबसूरती से आप इसे निभा रहे हैं. 'शेष' बराबर देखता हूँ. इससे मुंह नहीं फेरा जा सकता. बहुत कुछ इसी पत्रिका से पता चलता है. और यह मामूली बात नहीं. अक्टूबर-दिसम्बर अंक में इराक़ी कहानियां, नज़्में, संबोधन, गुफ़्तगू, पाकिस्ताननामा, मज़्मून, सफ़रनामा, ग़ज़लें, तुर्क़ी शाइरी, कविता, दोहे—इतना सब एक जगह मिलता ही कहां है ? दो ज़बानों की इस एक किताब पर रश्क होना चाहिए. संपादकीय जैसा एक पन्ना भी हर बार आता रहे तो दिशा दे सकता है. संकेत भी दिशा हो जाते हैं.

फूलचंद 'मानव', 3728, सेक्टर-22-डी, चण्डीगढ़-160022

मैं सब काम छोड़ कर सबसे पहले आपको ख़त लिखना पसंद करता हूं, क्योंकि मैं आपको, आपकी ऊंची हैसियत, शख़्सियत को पसंद करता हूं. कई बार रश्क भी करता हूं कि मैं दुनियावी चीज़ों को पूरी तरह ठुकराने वाला, आपकी तरह का इन्सान

क्यों न बन सका? आपकी एक बात बस नापसंद करता हूं कि आप फ़ालतू लोगों को ख़्वामख़्वाह तरजीह दे कर, उनको महत्व देते रहते हो. पहले भी अर्ज़ कर चुका हूं कि इन टुच्चों, कमीनों, बेवकूफ़ों, लुच्चे, लफंगों, उल्लुओं, गधों (जो सही हो उस पर (✓) का निशान लगा लें या सभी पर) की परवाह ही क्यों करते हैं? इनकी तो हमेशा उपेक्षा की जानी चाहिए. कई अच्छे दोस्त और क़द्रदान हैं तो आप इसी जानिब ध्यान दीजिए. मेरे साथ जिन का पत्र-व्यवहार है, वे आपकी प्रशंसा करते नहीं थकते. आपको ख़ुद (शायद) मालूम नहीं कि आप 'शेष' को बुलंदियों पर पहुंचा कर कितना बड़ा काम कर रहे हैं बिना किसी दंभ के! इस हिसाब से सारे के सारे आपके सामने पिद्दी हैं. कृपया इसे अतिशयोक्ति न समझें. आप अपने में मस्त रहें और सिर्फ़ अपने काम से काम रखें.

हरदर्शन सहगल, 'संवाद' डुप्लेक्स कॉलोनी, बीकानेर (राज.)

उर्दू को लेकर आजकल अंग्रेज़ी की पत्रिकाओं में बहस चल रही है और उर्दू की शिकस्ता हालत पर मलाल ज़ाहिर किया जा रहा है. जहां इसे महफ़ूज़ रखने का सवाल उठता है, वहां इसकी लिपि को देवनागरी में करने की बात कही जाती है और वहीं आप और 'शेष' का ज़िक्र किया जाता है. मैं मामूली उर्दूदां हूं, मगर मैं उर्दू को देवनागरी लिपि में लिखने का क़ायल नहीं हूं. मशहूर इतिहासकार डॉ. ताराचन्द का कहना था कि हिन्दी की उत्पत्ति उर्दू से हुई है. महज़ अरबी-फ़ारसी के अल्फ़ाज़ की जगह संस्कृत के अल्फ़ाज़ जोड़ देने से उर्दू से हिन्दी बन गयी. फ़िराक़ का कहना था कि इधर-उधर-किधर-जिधर जो उर्दू के अल्फ़ाज़ हैं, इन्हें निकाल दें तो हिन्दी में एक पोस्टकार्ड भी नहीं लिखा जा सकता. 'शेष' तो हिन्दी के पाठकों को उर्दू का साहित्य पढ़ा रहा है. माना कि उर्दू की तहरीर मुश्किल है, मगर हिन्दी तो कुल मिलाकर 'हिन्दूवादी' ही रह जाती है. वेहतर तो यही होगा उर्दूदां को देवनागरी भी आती हो मगर उर्दू की, स्क्रिप्ट बदलने से तो 'ग़ज़ल' 'गजल' होकर रह जायेगी. बहरहाल आप 'शेष' निकाल कर हमारी मादरी ज़ुबान उर्दू की ख़िदमत कर रहे हैं.

हरिश्चंद्र श्रीवास्तव, द्वारा संजय सिन्हा, P.E.S., 47-ए, एम.जी रोड, इलाहाबाद

जोधपुर के लिये चलने से पहले आपका अजीबो-ग़रीब ख़त मिला, जिसकी वजह से बहुत चाह कर भी मैं जोधपुर में आपसे मुलाक़ात न कर सका. यक़ीन मानिये मेरे दिल में तो आपके लिये 'शेष' के कारण सिर्फ़ इज़्ज़त ही है और कुछ नहीं और आपसे मिलने की इच्छा की वजह भी यही थी कि मैं अपने जज़्बात से आपको वाक़िफ़ करा सकूं...आपने पिछले एक ख़त में लिखा था कि नजीब महफ़ूज़ के नॉवेल 'जिस दिन सद्र का क़त्ल हुआ' पर ज़्यादा रेस्पोंस नहीं मिला है. ये नॉवलैट काफ़ी दिलचस्प है और मिस्र के उन दिनों के हालात पर भी पैनी नज़र डालने वाला नॉवलैट है. ज़ाहिर है कि नजीब महफ़ूज़ की और बहुत-सी रचनाएं ज़्यादा महत्वपूर्ण होंगी,

लेकिन हमारी ज़बानों में नजीब का इतना कम अदब तर्जुमे के ज़रीए शाए' हुआ है कि उनके अदब की छोटी-सी झलक भी अच्छी लगती है...अस्ल में मेरी उर्दू सीखने की बहुत तमन्ना थी. अभी भी उर्दू सीखाने वाली 6-7 किताबें मेरे पास रखी हैं. ज़िंदगी के अनेक दूसरे कामों के चलते पर्शियन रस्मुलख़त ही ठीक ढंग से सीख नहीं पाया, इस हालत में देवनागरी में जब उर्दू ज़बान पढ़ने को मिलती है तो ज़रूर ही सुकून मिलता है.

डॉ. चमनलाल, हिंदी विभाग, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला

निश्चित रूप से इतनी अच्छी पत्रिका निकालना जुनून का काम है. इतनी बेहतर सामग्री जुटा पाते हैं, यह आपकी लगन का सुबूत है. गोपीचंद नारंग का लेख 'तन्क़ीद की बदलती तरजीहात और नज़रीयाती रवैये' एक सटीक आकलन है. मैं आपको बधाई देना चाहता हूं. आप अपने प्रयत्न में कभी कमी मत करना. हमारी ज़रूरत जहां भी हो हमें बुला लेना.

सुदर्शन नारंग, 83/4 राधापुरी, हापुड़

ग़ज़लें बहुत ही 'उम्दा' हैं. ख़ुतूत भी अपने आप में ख़ासे दिलचस्प और अहमियत रखते हैं. लघुकथाओं के तेवर बरक़रार हैं. प्रो. गोपीचन्द नारंग से ख़्वाजा मुहम्मद इकरामुद्दीन की गुफ़्तगू सवाल-जवाब के दायरे में बहुत-सी बुनियादी बातों का ख़ुलासा करती है और असरदार बन पड़ी है.

मुहतरमा उज़्मा नाहीद का मेहमान इदारिया लाजवाब है. अस्ल में उनके क़लम से निकली हुई ये एक सच्चे मुसलमान की आवाज़ है. बहुत ख़ूबसूरती से उन्होंने सीधे-साधे लफ़्ज़ों में अपनी बात/हक़ की बात लोगों तक पहुँचाई है. मुहतरमा उज़्मा साहिबा का नज़रीया सौ फ़ीसदी नेक ख़यालों से शराबोर सादगी और अम्न का पैग़ाम देता है. ये कहीं न कहीं हममें से हर एक के दिल की पुकार है जो हक़ीक़त में ढोंग ढकोसलों से दूर इस्लाम की बुनियादी सच्चाई को समझने की समझाइश देता है.

भाईजान ! अपनी मेल-मुलाक़ात तो सपने से कम नहीं. क्या 'शेष' के सम्पादक को ज़िन्दगीभर देखना नसीब नहीं होगा. आप अपनी एक-आध तस्वीर किताब के अगले या पिछले पन्ने पर क्यों नहीं छपवाते ताकि क़ारी भी अपने मुदीर की छवि से रूबरू हो सके. ग़ौर ज़रूर फरमाइयेगा. ये मेरे अकेले की बात नहीं, सैंकड़ों लोग जो 'शेष' को बड़े चाव और शिद्दत से पढ़ते हैं; मगर दूर हैं. क्या उस 'कारसाज़' को देखना नहीं चाहेंगे.

श्रीमती ख़ुदेजा ख़ान, धरमपुरा नं. 1, चित्रकोट रोड, जगदलपुर-494001 (बस्तर) छ.ग.

इराक़ी कहानियां सभी नायाब हैं. बहुत अच्छी लगीं. अबकी बार भी आपने हिन्दी दुनिया के लिए सामान्यतः सुलभ नहीं होने वाली रचनाएं उपलब्ध करवाई हैं.

'क़ैदी की वापसी', 'डर की मारी औरतें' और फ़ुहाद तकरली की कहानियां काफ़ी प्रभावित करती हैं. नये कथ्य एवं शैलीगत विशेषताओं के लिए.

इराक़ पर सभी नज़्में दुखी कर गयीं. इराक़ को अमेरिका आसानी से जीम गया और हम सब तमाशबीन की तरह देखते रहे.

मंज़र सुल्तान की कविता 'चालीसवां' और देवेन्द्र सिंह की 'युद्ध' काफ़ी तकलीफ़देह हैं. रामसिंह चहल की कविताएं मन को छू गयीं. श्री नारंग का ख़ुत्बा एवं गुफ़्तगू उर्दू की मौजूदा सूरतेहाल का सही और चिन्ता-त्मक बयान करते हैं. उर्दू की चिन्तनीय स्थिति पर परेशान हूं. उर्दू ही क्यों, अंग्रेज़ी एक दिन सभी भारतीय भाषाओं को देश निकाला दे देगी और हम देखते रह जाएंगे.

भवानी सिंह, 31, चन्द्रनगर, गोपालपुरा रोड़, जयपुर-302018 (राज.)

'शेष' (अक्टूबर-दिसंबर 03) विशेष है. मज़्मून माक़ूल हैं. हमारी पुरानी तारीख़ के कुछ रहनुमाओं की कोताहियों का ख़म्याज़ा हम वर्तमान पीढ़ी के हिन्दू-मुस्लिम भाई भुगत रहे हैं. जैसाकि मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद ने, जो एकजुट क़ौमियत और वतनपरस्ती में शिद्दत से यक़ीन रखते थे और आख़िर तक मुल्क की तक़्सीम के ख़िलाफ़ जिद्दोजहद करते रहे, अपनी किताब 'इंडिया विन्स फ़्रीडम' में बतलाया है और दो क़ौमी थ्योरी, बक़ौले इंदिरा गांधी, बंगाल की खाड़ी में डुबो दी गयी. पश्चिम-परस्त सियासतदां मि. मुहम्मद अली जिन्नाह द्वारा चलाई गई और मुस्लिम फ़िरक़ापरस्ती को उभारकर मुल्क को दो हिस्सों में बंटवा दिया.

कविताएं भी अच्छी हैं—*'युद्ध का चेहरा यकसां घिनौना होता है और युद्ध सबसे बड़ा व्यवसाय—वह मुक्ति के नाम पर मृत्यु बरसाता है, मानव को युद्धों ने कई शक्लों में बांटे हैं.'* दोहे भी मन मोहने वाले हैं :

जन्नत में रोता ज़फ़र देख वतन बरहाल
इसीलिए क्या गही थी मैंने करवाल

लघुकथा 'अनसुलझे मस्अले' में अनवर सुहैल के मास्टर निसार ने सुलझाने की कोशिश की है. जजों-मुंसिफ़े आज़मों को तो कोई फ़िक्र नहीं है—कोई जिये, कोई मरे उन्हें क्या ज़रूरत है जो वे–'पीर पराई जानें' और इसलिए ऐसी कोशिशें हम सभी भाइयों, दोस्तों, पड़ोसियों को ही आपस में मिल बैठकर करनी होगी—हर घर-परिवार, पास-पड़ोस, समाज और देश में अम्न शांति, एकता, स्नेह-समता के लिये, आगामी पीढ़ी की खुशहाली के लिये.

ग़ज़लकार दुष्यन्त कुमार की ग़ज़ल की दो पंक्तियां पेश हैं :—

हो गई है पीर पर्वत-सी, पिघलनी चाहिए
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए

कुशल करण, 'सांचीहर' सुनारों का बास, जोधपुर-342 001 (राजस्थान)

इराक़ी कहानियों का केन्द्रित अंक पसंद आया. एक बड़ा काम आपने किया है. एक बात share करना चाहता हूं. इराक़ी लेखकों की बात मन में आते ही ख़याल आया कि ज़रूर ऐसे लेखकों की कहानियां होंगी जो इराक़ से बाहर आकर पेरिस या अन्यान्य जगहों में रह रहे इराक़ी लेखकों की कहानियां दी होंगी जो हमें 'बाहर' उपलब्ध होती हैं. अंतिम कहानी को छोड़कर बाक़ी सभी के साथ यह बात सही निकली. इस बात को उल्लेखित करने का प्रयोजन यह है कि जो हमारे पास आ पाता है, उसमें भी उपलब्ध होने तक की यात्रा में अंतर्राष्ट्रीय दबाव होते हैं. सीधे चीज़ें नहीं आतीं. mediated ही होती हैं. मैं यहां सिर्फ़ अमेरिकी साम्राज्यवादी इत्यादि शक्तियों का ज़िक्र नहीं कर रहा हूं. इराक़ हमारे पास पेरिस, लंदन और वाशिंगटन के माध्यम से ही आता है. यह बात साहित्य के क्षेत्र में भी है...

कहानियां अच्छी थीं. काम कठिन था. अनुवाद बड़ी मेहनत से किया गया है. गोपीचंद नारंग का लेख और इण्टरव्यू दोनों ही पठनीय हैं.

हितेन्द्र के. पटेल, चेतना अपार्टमेंट, 493/बी, प्राणश्री पैल्ली, कोलकाता-60

कहानियां (इराक़ी) तो इतनी अच्छी लगीं कि एक कहानी तो मैंने तुरंत ही पंजाबी में रूपांतर कर दी और पंजाबी पत्रिका 'शंख' में प्रकाशित भी हो गयी है. अंक की कविताएं भी अच्छी लगीं. देवेन्द्रसिंह की कविता 'युद्ध' का भी अनुवाद कर दिया है और छप गया है. पंजाबी पत्रिका 'कला सर्जक' में. समीअ मेहदी की–जंग की डायरी-कविताएं भी ख़ूब हैं और ख़ुत्बा-गोपीचंद नारंग का बेहतर लगा. आपबीती/पापबीती–साक़ी फ़ारूक़ी भी ख़ूब है.

रामसिंह चहल, दसमेश नगर, मानसा-151505

मेहमान इदारिया में उज़्मा नाहीद, रामप्रकाश कपूर का मज़्मून और तन्क़ीद के सिलसिले में गोपीचंद नारंग का ख़ुत्बा ग़ौर से पढ़ने लायक़ हैं. सादी यूसुफ़, इक़्बाल मजीद, मंज़र सुल्तान की नज़्में, रामसिंह चाहल की कविताएं असर छोड़ती हैं. भाई! न तो मैं इराक़ी हूं और न कहानीकार, शायद इसीलिए इराक़ी कहानियाँ बाउंस हो गईं. ग़ज़लों में अहमद फ़राज़ के अलावा अहमद मुश्ताक़ और अनिल पठानकोटी अच्छे लगे. दोहों की तलाश में मशक़्क़त करें और इंतिख़ाब बड़े एहतियात से करें, वर्ना 'शेष' पर हर्फ़ आता है.

राजेंद्र तिवारी, 'तपोवन', 38-बी, गोविन्द नगर, कानपुर-208006

'शेष' को हमारे साथियों ने काफ़ी पसंद किया. ख़ास वे जो उर्दू ज़बान सीख रहे हैं. हमारी देख-रेख में कुछ छात्र उर्दू पढ़-लिख रहे हैं. अपनी ज़बान को सुधारने और उर्दू अदब की जानकारी के लिए 'शेष' का मुताअला बहुत ही ज़रूरी है.

कृष्णचंद्र चौधरी, ज़िला हॉस्पिटल, आमस (गया-बिहार)

'शेष' जैसी साहित्यिक पत्रिका में क्रिकेट पर संपादकीय तनिक आश्चर्य का विषय था. आपने जिस नुक़्त-ए-नज़र से इस फ़िरंगी खेल पर तन्क़ीद की है, वह क़ाबिले-तारीफ़ है. डॉ. लोहिया की जुबानी इस मुल्क की दो बीमारियाँ अविलम्ब दूर होनी चाहियें—एक क्रिकेट और दूसरी अंग्रेज़ी. आज दोनों ही हमारी छाती पर और पाकिस्तान की छाती पर मूंग दल रही हैं.

'जज़्बी' गुज़रे ज़माने के गुज़रे लोगों पर कई नयी मालूमात हैं. परवाना रदौल्वी साहब उर्दू को देवनागरी में लिखने के ख़िलाफ हैं. यह भावुकता भरा सोच है. मेहरबानी करके वे 'हंस' नवम्बर 03 का संपादकीय बांच लें. 'पाकिस्ताननामा' पढ़ने का लुत्फ़ अलग ही है. मग़ूबअली उसे बढ़िया पेश कर रहे हैं. ख़ुदा के नाम गुलज़ार की पाँच नज़्में नहीं, बल्कि पाँच खौलते हुए सवाल हैं. हबीब हक़ साहब का यादनामा 'शरीफ़ज़ादा' पढ़कर तबीअत बाग़-बाग़ हो गयी. शरीफ हसन सा. न केवल तरक़्क़ीपसंद, बल्कि बेबाक भी हैं, न छिपना, न छिपाना. डॉ. कांतिकुमार जी का संस्मरण जो उन्होंने अपने सहपाठी शैख़ अब्दुल पर लिखा है, पढ़कर आँखें नम हो गयीं. भाई अनवर सुहैल की दोनों लघुकथाएं दूर तक सोचने को मजबूर करती हैं.

बाबूलाल माली, मंदसौर (म.प्र.)

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित इराक़ की ज़िन्दगी की कुछ झलकियां इन कहानियों में मिलीं. अगर इराक़ की नवीनतम कहानियां भी उपलब्ध हो सकतीं, तो उनमें मौजूदा हालात पर रौशनी मिल सकती थी. किसी भी मुल्क का साहित्य अपने दौर के हालात से अछूता नहीं रह सकता. उज़्मा नाहिद का इदारिया, कुछ रहनुमाओं की कोताहियों का ख़म्याज़ा (रामप्रकाश कपूर) भारतीय मुसलमानों का भविष्य (हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, बादशाह हुसैन रिज़वी) विचारणीय और चिंतनीय लेख हैं. 'परख' में सलाहुद्दीन परवेज़ की किताब 'दी वार जर्नल्स' की समीक्षा ने नई जानकारियां दीं. अन्य किताबों की समीक्षाएं भी सराहनीय रहीं. इस बार भी सभी लघुकथाएं धारदार रहीं. 'शेष' में उर्दू के अफ़साने फिर छपने चाहियें. नैयर मस्ऊद के अफ़साने मुझे इसी रिसाले से पढ़ने को मिले हैं.. इसी तरह लघुकथाओं के लिए स्थान बढ़ाया जावे. इस बार आपके क़लम से इदारिया पढ़ने की ख़्वाहिश है.

अशफ़ाक़ क़ादरी, मौहल्ला चूनगरान, बीकानेर-334005

आपने हिन्दू धर्म परित्याग करने पर बहुत आश्चर्य व्यक्त किया है. आप एक महत्त्वपूर्ण कार्य में संलग्न हैं और बहुत ही महत्त्व की पत्रिका का सम्पादन कर रहे हैं. साहित्यकारों को हज या तीर्थ यात्राओं पर वक़्त ज़ाया नहीं करना चाहिये. संयोग कहिये, मैंने भी दो-एक तीर्थ-यात्रा की है, लेकिन मुझे किसी तरह की धार्मिकता अथवा आध्यात्मिक लाभ नहीं हुआ. अभी हाल में पुरी गया लेकिन मैं जगन्नाथ मंदिर नहीं गया. बच्चन जी की कविता पर मेरी पूरी आस्था है :–

बैर बढ़ाते मस्ज़िद-मंदिर
मेल कराती मधुशाला

जहाँ अभी है मंदिर-मस्जिद
वहां बनेगी मधुशाला

तर्पण अर्पण करना मुझको
पढ़-पढ़ कर मधुशाला

यह कि असग़र अली इंजीनियर साहब की पुस्तक 'इस्लाम का जन्म और विकास' पढ़ कर समाप्त की है. धर्म संस्थापकों को बड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है. ईसा मसीह को तो सूली पर ही चढ़ा दिया गया. स्टेन्स हत्याकाण्ड में दारासिंह को फांसी की सज़ा दी गयी है. यह एक लोमहर्षक घटना थी. गुजरात की साम्प्रदायिक घटनाओं ने दिल दहला कर रख दिया है. इतिहास का एक-एक काला अध्याय जुड़ता चला जा रहा है. जगदीशचंद्र हसीजा की पुस्तक 'दि एटरनल वर्ल्ड ड्रामा-भाग-1 व 2 पढ़ें.

के. के. सिंह, 'राजमहल', जगदलपुर-494001, जि. बस्तर (छत्तीसगढ़)

नागरी लिपि भाषाओं को जोड़ती है. नागरी लिपि में उर्दू साहित्य पढ़कर यह एहसास ज़रूर हो जाता है कि हर धर्म में सच्चा कलाकार, लेखक, कवि, प्रतिभा साधना करता है. मुझे उर्दू के बारे में इतना अच्छा ज्ञान नहीं है. लेकिन हिंदुस्तानी शैली में लिखी बात दिल तक पहुंच जाती है. आप एक महान कार्य कर रहे हैं. भारतीय भाषाओं के बीच संवाद होना चाहिए. यह अनुवाद के द्वारा हासिल किया जा सकता है.

परवाना रदौल्वी जी का लेख 'उर्दू की लाश पर देवनागरी का कफ़न' पढ़ा. यह हक़ीक़त है कि भारतीय भाषाओं में नागरी लिपि का प्रभाव अत्यंत व्यापक है. हमें नागरी लिपि को अपनाना ही चाहिए. जब से उर्दू नागरी लिपि में छप रही है, तब से उर्दू का दायरा बढ़ गया है. सुप्रसिद्ध शाइर बशीर बद्र, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, निदा फ़ाज़ली आदि चर्चित शाइरों की रचनाओं को सभी क़ौमों ने स्वीकार किया है. वैश्वीकरण के इस युग में अंग्रेज़ी भाषा का सांस्कृतिक आक्रमण हम रोक नहीं पा रहे हैं. सभी भारतीय भाषाओं को अंग्रेज़ी से ख़तरा है. इन हालात में 'उर्दू की लाश पर देवनागरी का कफ़न' जैसी बातें करना फ़ज़ूल है.

मैंने इंटरनेट पर देखा है कि विदेश में बसे भारतीय लोगों ने हिंदी भाषा को रोमन लिपि के द्वारा ज़िंदा रखा है. कम्प्यूटर के द्वारा डिज़ीटल अनुवाद रोमन स्क्रिप्ट में हो रहा है. भाषा के लिए कोई सरहद नहीं होती. किसी भाषा को आप लिपि में क़ैद करना क्यों चाहते हैं ? मैं मानता हूं कि किसी भी भाषा के लिए लिपि का अलग

महत्त्व है. फिर भी अगर किसी को अन्य भाषा से प्यार हो जाए और वह उसे किसी दूसरी लिपि में लिखे, तो कोई संकट खड़ा नहीं हो सकता. सच्चा भाषा-प्रेमी मेहनत करके लिपि सीख सकता है. हिंदी को विदेशी मीडिया ने रोमन लिपि में लिखकर 'मशहूर' किया है, फिर भी भाषा का दायरा बढ़ने में मदद मिलती है. जब मैं बशीर बद्र और निदा फ़ाज़ली की ग़ज़लें नागरी लिपि में पढ़ता हूं, तो यह एहसास ज़रूर हो जाता है कि उनकी ज़ुबान भिन्न ज़रूर है, लेकिन हमारे दिल एक हैं. उर्दू अगर नागरी लिपि स्वीकार करती है, तो उसका भविष्य निश्चित उज्ज्वल होगा. हिंदी भाषा के लिए भी यह बड़ा योगदान होगा. ❑

विजय प्रभाकर कांवठे, सहा. निदेशक (राजभाषा), भा.सं.नि.लि. , अहमदनगर-414003

फ़ार्म-4

प्रेस तथा पुस्तक पंजीयन अधिनियम की धारा 19 डी के अंतर्गत अपेक्षित 'शेष' नामक पत्रिका से संबंधित स्वामित्व और अन्य बातों का विवरण :

1.	प्रकाशन का स्थान	: पन्ना निवास के सामने, लोहारपुरा, जोधपुर
2.	प्रकाशन की आवर्तता	: त्रैमासिक
3.	मुंद्रक का नाम	: यशवंत भंडारी
	क्या भारतीय नागरिक है	: हां
	पता	: न्यू पावर हाउस रोड, जोधपुर
4.	प्रकाशक का नाम	: हसन जमाल
	क्या आप भारतीय नागरीक हैं	: हां
	पता	: पन्ना निवास के सामने, लोहारपुरा, जोधपुर
5.	सम्पादक का नाम	: हसन जमाल
	क्या आप भारतीय नागरिक हैं	: हां
	पता	: पन्ना निवास के सामने, लोहारपुरा, जोधपुर
6.	उन व्यक्तियों के नाम और पते, जो पत्रिका के मालिक और कुल प्रदत्त पूंजी के एक-एक प्रतिशत से अधिक के हिस्सेदार या भागीदार हैं	: हसन जमाल, पन्ना निवास के सामने, लोहारपुरा, जोधपुर (राज.)

मैं, हसन जमाल, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपरोक्त विवरण सही हैं.

—हसन जमाल

किताबों के लिए शुक्रिया

1. कहकशां (शाइरी) हशम तुराबी/विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी/2002/50.00
2. योद्धा (क.सं.) सुदर्शन नारंग/83/4 राधापुरी, हापुड़
3. सब से बड़ा सच (क.सं.) डॉ. अज़रा 'नूर'/अंकुर प्रकाशन, 13 पीपलेश्वर महादेव की गली, उदयपुर/2003/150.00
4. निशाते-ग़म (शाइरी) ख़लील मामून/महफ़िल इवेंट मियनेजर्स, 21 काकबर्न रोड, बैंगलोर/2003/100.00
5. वीर-गाथा (उर्दू नॉवेल) सलीम शहज़ाद/मंज़रनुमा पब्लिशर्स, 323, मंगलवार रोड, मालेगांव (महाराष्ट्र)/2003/200.00
6. महामारी (उर्दू-नॉवेल) शमोएल अहमद/नक़्क़ाद पब्लिकेशन्स, 301, ग्राण्ड अपार्टमेंट, नई पार्टलिपुत्र कॉलोनी, पटना/2003/200.00
7. ज़मीन (उप.) बनाफ़रचंद्र/यात्री प्रकाशन, सादतपुर, दिल्ली/2004/225.00
8. आईना मा'नीनुमा (वली औरंगाबादी, बाज़ हक़ाइक़)/असलम मिर्ज़ा/नवाए-दकन पब्लिकेशन्स, 7 रूबरू मस्तान फ़ंक्शन हॉल, औरंगाबाद/2003/75.00
9. औराक़े-परीशां (कुल्लीयाते-रासिख़) उर्दू-मुर्त्तबः हाजी ख़ुर्शीद अहमद/रासिख़ कम्प्यूटर सेंटर, बीकानेर/2002/600.00
10. गोश्त (क.सं.) सय्यद जावेद हसन/जनशब्द, शाहजहां मंज़िल, रवाजपुरा, पटना-14/2003/25.00
11. संस्कृत बूतीक़ा (उर्दू) अंबर बहराइची/इस्तिआरा पब्लिकेशन्स, 248 ग़फ़्फ़ार अपार्टमेंट्स, जामिआ नगर, नई दिल्ली/2003/200.00
12. प्रतिनिधि रचनाएं/पद्मश्री मोतीलाल जोतवाणी/सम्पर्क प्रकाशन, बी-14, लाजपत नगर, नई दिल्ली/1996/225.00
13. निर्वासन (क.सं.) उर्मिला शिरीष/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली/2003/120.00
14. लक्ष्मी-संग सतरह घण्टे (क.सं.) सतीश दुबे/दिशा प्रकाशन, 138/16, त्रिनगर, दिल्ली-35/2004/150.00
15. आंखों-आंखों ख़्वाब सुहाने (शाइरी) 'अक्स' जिन्दवी, 'सूर्यहरि' 50/6, प्रताप नगर, सांगानेर, जयपुर/2002/180.00